हिंदी-नाटकों का विकास



शिवनाथ एम० ए०



कि ता ब म ह ल
इ ला हा बा द

प्रथम संस्करण, १९५१

प्रकाशक—किताब महल, इलाहाबाद।
मुद्रक—ए० डबल्यू० आर० प्रेस, इलाहाबाद।

आमुख

हिंदी-नाटकों के विकास में रेखाएँ यत्रतत्र कुछ कम लगी जान पड़ सकती हैं, मगर जो लगी हैं वे काफी जोरदार और प्रौढ़ हैं। पुस्तक में शृंखलित तुलनात्मक मीमांसा और समीक्षा पर सर्वत्र दृष्टि रही है। फिर भी 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' की 'प्रस्तावना' में पठित सूत्रधार की वाणी याद आ ही जाती है—

आपरितोषाद्विदुषां न साधुमन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः॥

यहाँ प्रशंगवश मैं 'प्रयोगविज्ञानम्' की जगह 'समीक्षाविज्ञानम्' कर देना चाहता हूँ।

भाई श्री विश्वंभरनाथ 'मानव' का बहुत कृतज्ञ हूँ, जिनकी प्रेरणा और जिनके प्रोत्साहन से कार्य संपूर्णतः संपन्न हो गया है।

शांतिनिकेतन
श्रावण शुक्ल ११
सं० २००७ वि०

शिवनाथ

विषय-पट

विषय			पृष्ठ
१. आरंभिक झाँकी	...	...	१
२. भारतेंदु-युग	...	...	६
३. द्विवेदी-युग	...	...	१७
४. छायाबाद-रहस्यवाद-युग	...	...	२८
५. श्री जयशंकर 'प्रसाद'	...	...	३६
६. अन्य ऐतिहासिक नाटककार	...	...	४८
७. पौराणिक और सामाजिक नाटक		...	५०
८. अध्यवसित रूपकीय नाटक	...	...	५५
९. गीति-नाट्य	...	...	६२
१०. समस्यानाटक	...	...	६६
११. श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र	...	...	७२
१२. छायावाद-रहस्यवाद-युगीन नाट्य-कला		...	८३
१३. वर्तमानयुग और एकांकी नाटक		...	८६
१४. एकांकी नाटककार	...	...	९६
१५. ध्वनिनाटक और ध्वनिरूपक	...	...	१०३
१६. रंगमंच	...	...	१११
१७. नाम-वर्णिका	...	...	११५

हिंदी-नाटकों का विकास

१

आरंभिक झाँकी

—१—

हिंदी-नाटकों का जो रूप हमारे संमुख विद्यमान है वह समृद्ध नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। आधुनिक हिंदी-साहित्य के प्रथम युग-भारतेंदु-युग में व्यवस्थित रूप से इसकी रचना का आरंभ हुआ और तब से आज तक प्रभूत रचनाएँ हो चुकी हैं। कहा जाता है कि आधुनिक हिंदी-साहित्य का प्रवर्तन नाटक-रचना से ही आरंभ हुआ, परंतु नाटक-रचना के कुछ तत्त्व भारतेंदु-युग के पूर्व की कुछ रचनाओं में भी मिलते हैं। ऐसी रचनाओं मे हम नाटक के अवयवो को व्यवस्थित रूप में नहीं प्रत्युत बिखरे रूप मे पाते हैं। इनके व्यवस्थित रूप के दर्शन भारतेंदु-युग में ही हुए। साहित्य का लक्ष्य है रूप वा चित्र-निर्माण कर रसानुभूति उत्पन्न करना। पंडितराज जगन्नाथ की 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' और विश्वनाथ महापात्र की 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' वाली काव्य विषयक परिभाषाओं की सार्थकता इसी रूप में सिद्ध होती है। समाज और जीवन को लेकर साहित्य-संबंधी गौण लक्ष्यों की बात यहाँ मै नहीं कर रहा हूँ। अभिनेयत्व के कारण नाटक स्वयं चित्र है, अभिनय में चित्र ही तो उपस्थित किए जाते हैं। यह चित्र उपस्थित करने मे अभिनय के संभार के अतिरिक्त कथोपकथन प्रधान सहायक है। अभिप्राय

यह कि नाटक का मूल तत्त्व कथोपकथन है और केवल इसी रूप में सही भारतेंदु-युग को पूर्व की किन्हीं रचनाओं में यह प्राप्त होता है। हिंदी का नाटक-साहित्य किसी न किसी रूप में भारतेंदु-युग के पूर्व से आरंभ होकर शैली (टेकनीक) और विषय के क्षेत्र में परिस्थितिवश कई परिवर्तन ग्रहण करता हुआ आज हमारे संमुख विद्यमान है। विषय और शैली की दृष्टि से हिंदी-नाटक ने उत्तरोत्तर जो परिवर्तन ग्रहण किए हैं उन के द्वारा उसमें समृद्धि आई है। निर्माण की बहुलता की दृष्टि से भी वह समृद्ध हुआ है।

—२—

'अभावे शालि चूर्ण वा' की बात साहित्य के किसी अंग के विकास के विवरण देने में भी भली भाँति लागू होती है। साहित्याङ्ग के विकास का विवरण प्रस्तुत करने के लिए उसके एक भी अवयव की प्राचीनता की खोज का निर्देश करने की चाल आरंभ से ही देखी जाती है। साहित्य के किसी अंग के संपूर्ण अवयवों के न मिलने पर उसके एक भी अवयव के द्वारा उसकी (साहित्य के किसी अंग की) प्राचीनता की नाप-तोल हम कर लेते हैं। यहाँ स्मरण यह रखना है कि साहित्यांग के प्रमुख वा प्रातिनिधिक अवयव पर हमारी दृष्टि अवश्य रहती है। हिंदी-साहित्य में नाटक की प्राचीनता की खोज में भी यही बात दिखाई पड़ती है। सभी दृष्टियों से पूर्ण नाटक मिलने के पूर्व उसके कुछ अवयव मात्र हिंदी-साहित्य में दृष्टिगत होते हैं और उन्हीं के आधार पर हम हिंदी-नाटक की प्राचीनता पर विचार करते हैं। ऊपर हमने कहा है कि नाटक का प्रमुख वा प्रातिनिधिक अवयव कथोपकथन है। हिंदी में नाटक रचना की आरंभिकी स्थिति में कुछ रचनाएँ ऐसी संमुख आईं जो इसीलिए नाटक कह दी गई कि उनमें कथोपकथन मात्र था। प्राणचंद चौहान कृत 'रामायण

महानाटक' (सं० १६६७) और रघुराम नागर कृत 'सभासार' (सं० १७-५७) ऐसी ही रचनाएँ हैं। महाराज विश्वनाथसिंह कृत 'आनंदरघुनंदन नाटक' भारतेंदु श्री हरिश्चंद्र की दृष्टि से हिंदी का प्रथम नाटक था, परंतु उसमें नाटक के सभी तत्त्वो की निहिति अच्छी नहीं है, सारी बातें केवल कथोपकथन के रूप में रखी प्रतीत होती हैं।

नाटक रचना के इस आरंभिक काल में कुछ मौलिक और अनूदित रचनाएँ भी ऐसी प्रस्तुत हुईं जिनका संवाद पद्यमय है, इनमें गद्य का उपयोग ही नहीं किया गया है। अनाथदास कृत 'प्रबोध चंद्रोदय' के अनुवाद (सं० १७२६) में अभिनय-निर्देश तक पद्य में है। इस काल के अनूदित और मौलिक नाटकों में से अत्यधिक संख्या ऐसे नाटकों की है जो पद्यमय ही हैं। यह सब पर विदित है कि भारतीय प्राचीन साहित्य में नाटक भी काव्य ही माना जाता था—काव्येषु नाटकं रम्यम्। ऐसी परिस्थिति में संस्कृत के नाटको में पद्य और गद्य दोनों का उपयोग किया गया है—पद्य का उपयोग तो अपेक्षाकृत अधिक है। हिंदी की नाटक-रचना की आरंभिक स्थिति में संस्कृत से ऐसी ही परंपरा मिली। इस स्थिति मे अत्यधिक रचनाएँ ऐसी निर्मित हुईं जो संस्कृत से अनूदित हैं। संस्कृत के नाटको में गद्य-पद्य दोनों के उपयोग होने के कारण अनुवाद में भी इनका उपयोग करना पड़ा। परंतु गद्य-पद्यमय संस्कृत नाटकों के कुछ अनुवाद भी पद्य में ही हुए। इस समय 'अभिज्ञान शाकुंतल', 'मालती माधव', 'प्रबोध चंद्रोदय', 'हनुमन्नाटक' आदि के अनुवाद अधिक हुए और इन अनुवादों में पद्य का उपयोग ही अधिक किया गया।

इस समय के मौलिक नाटकों में अधिक ऐसे हैं जो पद्यमय ही हैं। जैसे–प्राणचन्द चौहान कृत 'रामायण महानाटक', रघुराम नागर कृत 'सभासार', लछीराम कृत 'करुणाभरण', आदि। ऐसे नाटकों की शैली

स्थूलतः वैसी ही अथवा उसमे कुछ परिष्कृत समझनी चाहिए जैसी केशवदास की 'रामचंद्रिका' की है।

ऊपर इसका निर्देश हुआ है कि संस्कृत के नाटक गद्य और पद्य दोनो में मिलते हैं और यह परंपरा हिंदी को भी मिली। आज हिंदी-साहित्यवालों ने संस्कृत-साहित्य का अध्ययन-मनन बंद-सा कर दिया है। परंतु आरंभ से लेकर इधर द्विवेदी-युग तक यह प्रवृत्ति बराबर बनी रही। ऐसी अवस्था मे यह स्वाभाविक ही था कि संस्कृत की नाटक-रचना-शैली का प्रभाव हिंदी के नाटको पर पड़ता। हरिराम जी कृत (१) 'जानकी-रामचरित नाटक', लक्ष्मणशरण (मधुकर) कृत (२) 'रामलीला-विहार', महाराज विश्वनाथसिंह कृत (३) 'आनंद रघुनंदन नाटक', गिरिधरदास कृत (४) 'नहुष नाटक', आदि में गद्य और पद्य दोनो का प्रयोग मिलता है। इन नाटकों में से प्रथम और द्वितीय में खड़ी बोली का प्राधान्य है और चतुर्थ मे ब्रजभाषा का।

ऊपर नाटक के तत्त्वों से पूर्णतः और अंशतः भी युक्त जिन रचनाओं की चर्चा की गई है उनके निर्माण की काल-सीमा भक्ति और रीतिकाल है। इनमें तत्कालीन विषयों में उपलब्ध वस्तुओं की-सी ही वस्तुएँ गृहीत हैं। इन कालों के विषय प्रधानतः राम और कृष्ण की लीलाओ से संबद्ध हैं। शृङ्गार-काल में शृङ्गार की अभिव्यक्ति के लिए भी कृष्ण का चरित्र लिया गया। इन कालों मे जो नाटक भी निर्मित हुए उनकी वस्तुएँ भी राम और कृष्ण की लीलाओं से ही ली गईं। 'नहुप नाटक' जैसे कुछ पौराणिक नाटक भी रचे गए। वैसे तो स्थूलतः इन सभी नाटकों को हम पौराणिक नाटको की सीमा में रख सकते हैं। इन कालों में जो नाटक अनूदित हुए वे भी राम, कृष्ण की लीलाओं से ही संबद्ध हैं। 'हनुमन्नाटक' की वस्तु राम-लीला के ही अंतर्गत है। 'अभिज्ञान शाकुंतल' जैसे नाटक पौराणिक हैं।

रघुराम नागर कृत 'सभासार' (सं० १७५७) जैसी रचनाओं के विषय अवश्य ही ऐसे विषयों से भिन्न है। 'सभासार' कथोपकथन मात्र है और वह भी पद्य में। इसमें चुगल आदि के लक्षण वर्णित हैं। इस रचना में खड़ी बोली और उसमें भी तत्सम शब्दों का प्राधान्य है।

एकाध नाटक 'प्रबोधचंद्रोदय' के ढंग का भी मिलता है। जैसे-व्यास जी के शिष्य देव का रचा हुआ 'देवमायाप्रपंच नाटक'। इसका रचना-काल विक्रम की सत्रहवीं शती का मध्य समझना चाहिए।

इन नाटकों का विषय प्रधान रूप से प्रेम और उत्साह ही रहा। शृङ्गार और वीर रस की अभिव्यक्ति ही नाटकों में प्रधान रूप से हुई है। संस्कृत के नाटकों का स्वरूप भी रसकी दृष्टि से ऐसा ही रहा।

२

भारतेंदु-युग

(सन् १८६७–१९०३)

—१—

भारतेंदु-युग के पूर्व के नाटकों पर विचार करते हुए इसका निर्देश किया गया है कि आधुनिक साहित्य का प्रवर्तन नाटकों से ही माना जाता है और यह भारतेंदु-युग में घटित हुआ। यह तो नहीं कहा जा सकता कि भारतेंदु-युग में नाटको का पूर्ण विकास हो गया और उसके सभी तत्त्वों का समुचित उपयोग उस युग मे होने लगा, परंतु इस विषय में इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि पहले की अपेक्षा भारतेंदु-युग मे इसकी रचना-शैली, विषय आदि सभी दृष्टियों से नवीनता और उत्कर्ष का संनिवेश हुआ। यहीं यह भी कह दूं कि भारतेंदु-युग में नाटकों की जितनी रचनाएँ प्रस्तुत हुईं उतनी और किसी युग में नहीं। भारतेंदु-युग में छोटे-बड़े सभी साहित्यकारो ने नाटक की रचना की। इनके नाटकों में कितने शिष्ट है और कितने नहीं, यह दूसरी बात है। अभिप्राय यह कि भारतेंदु-युग मे नाटकों की बाढ़-सी आ गई और इस युग में जिन नाटकों को हम पूर्णतः शिष्ट नहीं कह सकते उनमे भी नाटकों के अल्पाधिक जो भी तत्त्व हैं

वे अपने पूर्व-युग की अपेक्षा किसी न किसी रूप में विकसित ही दृष्टिगत होते हैं ।

यह सभी पर प्रकट है कि भारतेंदु-युग में गद्य साहित्य—सच्चे साहित्य—के निर्माण के हेतु गृहीत हुआ, अर्थात् इस युग तक आते-आते वह विकास की इतनी मंजिलें पार कर चुका था कि अब उसमें साहित्य निर्मित हो सके। हमारे कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि भारतेंदु-युग तक आकर हिंदी का गद्य पूर्णतः विकसित हो चुका था। बात ऐसी तो नहीं है, उसका उत्तरोत्तर विकास आगामी युगों में भी हुआ। भारतेंदु-युग में इतने विकसित गद्य के प्राप्त हो जाने के कारण उस युग के नाटककारों को नाटक-रचना में कई दृष्टियों से स्वाभाविकता का संनिवेश करने का अवसर मिला। मतलब यह कि भारतेंदु-युग के पूर्व के नाटकों में पद्य का जो आधिक्य मिलता था, या यों कहें कि सारे नाटक में ही जो पद्य को प्रतिष्ठा मिलती थी वह भारतेंदु-युग में कम हुई। भारतेंदु-युग के सभी नाटकों में स्वाभाविकता को दृष्टि-पथ में रख कर गद्य और पद्य की समुचित व्यवस्था की गई, यह तो नहीं कहा जा सकता, परंतु इतना तो अवश्य हुआ कि पद्य का साम्राज्य नाटकों से उठ गया। हाँ, कुछ नाटकों में पद्य का अनपेक्षित आधिक्य अवश्य मिलता है। अभिप्राय यह कि गद्य का उपयोग नाटकों के लिए उस युग में आवश्यक समझकर उसका ग्रहण किया गया।

नाटक ही नहीं प्रत्युत साहित्य के सभी अंगों में समुचित स्वाभाविकता और नवीनता की संनिहिति की ओर भारतेंदु श्री हरिश्चंद्र की दृष्टि भलीभाँति लगी हुई थी। भारतेंदु-युग ऐसा युग था कि जिसमें हिंदी-साहित्य का संपर्क अँगरेजी-साहित्य और इस साहित्य से प्रभूत रूप से प्रेरणा ग्रहण करनेवाले बँगला-साहित्य से हुआ। भारतेंदु श्री हरिश्चंद्र

की दृष्टि नवीनता के खयाल से इन दोनों साहित्यों पर रहती थी। 'नाटक' (सं० १६४०) नामक प्रबंध में वे लिखते हैं—'आजकल योरोप के नाटकों की छाया पर जो नाटक लिखे जाते हैं और बंग देश में जिस चाल के बहुत से नाटक बन भी चुके हैं वह सब नवीन भेद में परिगणित हैं।' इस तरह के नवीन नाटकों में रचना-शैली, भाषा आदि की दृष्टि से स्वाभाविकता का जो संनिवेश हुआ उसकी संस्थिति हिंदी-नाटकों में भी वे देखना चाहते थे। उन्होंने इस तरह की बात 'नाटक' नामक प्रबंध में एकाधिक स्थलों पर कही है—'पात्रों का परस्पर कथोपकथन—पात्र-गण आपस में जो वार्त्ता करें उसको कवि निरे काव्य की भाँति न ग्रथित करे। यथा नायिका से नायक साधारण काव्य की भाँति 'तुम्हारे नेत्र कमल हैं, कुच कलश हैं' इत्यादि न कहे। परस्पर वार्त्ता में हृदय के भाव-बोधक वाक्य ही कहने योग्य हैं। किसी मनुष्य वा स्थानादि के वर्णन में लंबी-चौड़ी काव्य रचना नाटक के उपयोगी नहीं होती' इस प्रकार के विचारों पर भारतेंदु-युग के सजग नाटककारों की दृष्टि रहने के कारण उस युग में पद्यमय कथोपकथन अथवा नाटक में अस्वाभाविक रूप से काव्य का त्याग उचित ही था।

नाटक-रचना-शैली में अन्य प्रकार की नवीनता की स्थापना भी भारतेंदु-युग में की गई। भारतेंदु-युग और विशेषतः उस युग के नेता भारतेंदु श्री हरिश्चंद्र ऐसे अनाग्रही थे कि उसमें स्वदेश, विदेश, नवीन, प्राचीन सभी देशों तथा कालों की उपयोगी वस्तुएँ बिना हिचक के ग्राह्य मानी जाती थीं। उपर्युक्त प्रबंध में ही उन्होंने लिखा है— '... वर्तमान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल (प्राचीन काल) की अपेक्षा अनेकांश में विलक्षण है, इससे संप्रति प्राचीन मत अवलंबन करके नाटक आदि दृश्य काव्य लिखना युक्तिसंगत नहीं बोध होता।' आगे कहा है—'नाटकादि दृश्य काव्य

प्रणयन करना हो तो प्राचीन समस्त रीति ही परित्याग करे, यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि जो सब प्राचीन रीति वा पद्धति आधुनिक सामाजिक लोगों की मतपोषिका होगी वह सब अवश्य ग्रहण होंगी।' इस प्रकार हम देखते हैं कि वे 'मज्झिम मग्ग' पर चलने का निर्देश कर रहे थे। नवीन, प्राचीन; स्वदेशी, विदेशी सभी उपयोगी तत्त्वों के वे आग्रही थे। उस युग के साहित्यकारों में इस प्रकार की प्रगतिशीलता के भाव विद्यमान थे, और उन्होंने इनको अनुसरण करने का प्रयत्न भी किया, फिर भी उनमें प्राचीनता के प्रति विशेष रुझान लक्षित ही होती है। भारतेंदु-युग के नाटको मे अति काव्यत्व, पद्य का आधिक्य तथा ऐसे अन्य अस्वाभाविक तत्त्व जिनका संबंध प्राचीनता से भी था, विद्यमान ही थे। भारतेंदु श्री हरिश्चंद्र ने कहा कि 'अब नाटक मे कहीं 'आशीः' प्रभृति नाट्यालंकार, कहीं 'प्रकरी,' कहीं 'विलोभन,' कहीं 'संफेट,' कहीं 'पंचसंधि,' वा ऐसे ही अन्य विषयो की कोई आवश्यकता नहीं रही। संस्कृत नाटक की भाँति हिंदी नाटक मे इनका अनुसंधान करना, वा किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक रखकर हिंदी नाटक लिखना व्यर्थ है क्योकि प्राचीन लक्षण रख कर आधुनिक नाटकादि की शोभा संपादन करने से उल्टा फल होता है और यत्न व्यर्थ जाता है'। एक स्थान पर यह भी कहा है कि '...नांदी रचनादि विषय के नियम हिंदी में प्रयोजनीय नहीं;' परंतु उस युग के प्रायः सभी नाटककारो ने इन तत्त्वों पर दृष्टि रखी है। भारतेंदु श्री हरिश्चंद्र कृत 'विद्यासुंदर', लाला श्री निवास कृत 'रणधीर-प्रेममोहिनी', श्री मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या कृत 'प्रह्लाद नाटक,' श्री प्रतापनारायण मिश्र कृत 'कलि-कौतुक रूपक' आदि पाँच-सात ही ऐसी रचनाएँ मिलती हैं जिनमें 'प्रस्तावना' नहीं है। 'रणधीर-प्रेममोहिनी' में नांदी आदि भी नहीं है। भारतेंदु-युग के नाटककारों की दृष्टि प्राचीनता पर पूर्व-युग की अपेक्षा कम थी, इसमें संदेह नहीं।

भारतेंदु श्री हरिश्चंद्र के 'नाटक' नामक प्रबंध को देखने से विदित होता है कि उन्होंने नाटकीय ऐसे तत्त्वों का निर्देश भी किया है जिनके विषय में आज के नाटककारों का ध्यान भी आकृष्ट किया जाता है। कथा की भाँति नाटक की वस्तु में भी औत्सुक्य वा कुतूहल की संस्थिति, जिसके द्वारा श्रोता, पाठक और दर्शक की वृत्ति आद्योपांत नाटक की ओर लगी रहे; पात्रानुरूप भाषा का प्रयोग, अर्थात् पात्र की शिक्षा-दीक्षा, गुण-स्वभाव आदि को दृष्टि में रखकर कथोपकथन तथा उसकी भाषा के नियोजना; अल्प संवाद मे अधिक भाव-विचार की निहिति आदि नाटकीय तत्त्वों का निर्देश उन्होने किया है। इस प्रकार विदित होता है कि भारतेंदु-युग में सिद्धात रूप से ही सही अपने पूर्व-युग की अपेक्षा नाटक-रचना के तत्त्वो की दृष्टि से कहीं अधिक सजगता विद्यमान थी; कम से कम इस ओर लोगों की दृष्टि थी वा लाई गई। परंतु नाटक-रचना के इन सिद्धांतो का व्यवहार कम देखा गया।

—२—

पूर्व युग की भाँति भारतेंदु-युग में भी नाटक के क्षेत्र में अनुवाद का सिलसिला चलता रहा। हमने देखा है कि पहले संस्कृत-नाटकों के ही अनुवाद हुए। भारतेंदु-युग में संस्कृत के अतिरिक्त बँगला और अँगरेजी के नाटकों के अनुवाद भी प्रस्तुत हुए। स्वयं भारतेंदु श्री हरिश्चंद्र बहुत ही कुशल अनुवादक थे। उन्होंने अपने द्वारा अनूदित रचनाओं में मूल रचनाओं की अपेक्षा कम विशिष्टता नहीं स्थापित की। अपने अनुवादों में उन्होंने भाव की स्पष्टता के लिये पद्यो को घटाया-बढ़ाया भी है। 'रत्नावली', 'पाखंड विडंबन', 'धनंजय विजय', 'कर्पूर मंजरी' और 'मुद्राराक्षस' का अनुवाद संस्कृत से किया गया है। 'पाखंड विडंबन', 'प्रबोध चंद्रोदय' के तीसरे अंक का गद्य-पद्यमय अनुवाद

है। श्री प्रतापनारायण मिश्र ने 'अभिज्ञान शाकुंतल' का अनुवाद 'संगीत शाकुंतल' नाम से किया। इसमें भी भाव की स्पष्टता पर ही विशेष दृष्टि रखी गई है, 'मक्षिकास्थाने मक्षिका' वाले अनुवाद पर नहीं। इसमें गीति का प्राधान्य है।

भारतेंदु-युग में संस्कृत-साहित्य की भाँति बँगला-साहित्य की ओर भी लोगो की दृष्टि विशेष थी और उसे लोग बहुत ही आदर की दृष्टि से देखते थे। 'नाटक' नामक प्रबंध में एक स्थान पर भारतेंदु श्री हरिश्चंद्र ने कहा है—"........अपनी संपत्तिशालिनी ज्ञान वृद्धा बड़ी बहन वंग भाषा के अक्षय रत्न भांडागार की सहायता से हिंदी भाषा बड़ी उन्नति करे।' ऐसी परिस्थिति में बँगला-साहित्य से हिंदी में प्रभूत अनुवाद हुए और साहित्य के सभी अंगो की रचनाओं के अनुवाद हुए। बँगला से नाटक भी अनूदित हुए। श्री रामकृष्ण वर्मा ने बँगला के तीन नाटको का अनुवाद किया, जिनके नाम हैं—'वीर नारी,' 'कृष्ण-कुमारी नाटक' और 'पद्मावती'। ये नाटक पौराणिक और ऐतिहासिक हैं।

श्री मथुराप्रसाद उपाध्याय ने शेक्सपीयर के 'मैकबेथ' का अनुवाद 'साहसेंद्र-साहस' के नाम से किया। श्री गोपीनाथ पुरोहित ने शेक्सपीयर के 'ऐज़ यू लाइक इट' और 'रोमियो ऐंड ज्यूलियट' का अनुवाद 'प्रेम-लीला नाटक' नाम से और 'मर्चेंट आव् वेनिस' का अनुवाद 'वेनिस का बैपारी' नाम से किया।

भारतेंदु-युग के पूर्व के अनूदित नाटको पर विचार करते हुए देखा गया है कि उस युग मे पौराणिक नाटको के ही अनुवाद प्रधान रूप से हुए। भारतेंदु-युग में पौराणिक और ऐतिहासिक नाटक भी अनूदित हुए। पहले के नाटकों के अनुवाद में पद्य का उपयोग अत्यधिक किया

जाता था, भारतेंदु-युग में नाटकों का अनुवाद करते समय मूल रचना की भाँति पद्य के साथ ही गद्य का अनुवाद भी किया गया। अभिप्राय यह कि भारतेंदु-युग में स्वाभाविकता पर लोगों की दृष्टि विशेष थी।

यदि रस की दृष्टि से विचार करें तो ज्ञात होगा कि इस युग में अनूदित रचनाओं में शृंगार और वीर का ही प्राधान्य है, जैसा कि इसके पूर्व के युग में था।

—३—

भारतेंदु-युग के पूर्व के नाटकों के विषय की चर्चा करते हुए कहा गया है कि उस युग में अनूदित तथा मौलिक दोनों प्रकार के नाटकों का विषय मुख्यतः पौराणिक था, उस युग के नाटकों के विषय किसी न किसी रूप में राम और कृष्ण के जीवन से संबद्ध हैं। अभिप्राय यह है कि उस युग में नाटकों का विषय मुख्यतः पौराणिक ही था। भारतेंदु-युग में आकर नाटकों के विषय की परिमिति बढ़ी। पौराणिक विषयों की ओर तो इस युग के नाटककारों की दृष्टि गई ही, विषय की यह परंपरा तो पूर्व युग से चली ही आ रही थी, ऐतिहासिक और सामाजिक विषयों की ओर भी तद्‌युगीन नाटककारों की दृष्टि गई। श्री राधाकृष्णदास के 'मेवाड़ पद्मिनी' तथा 'महाराणा प्रतापसिंह' नाटक बहुत प्रसिद्ध हैं। भारतेंदु श्री हरिश्चंद्र का 'नीलदेवी' नाटक भी ऐतिहासिक है। लाला श्रीनिवासदास का 'संयोगता स्वयंवर' नाटक भी इसी कोटि में आता है। अभिप्राय यह कि उस युग में ऐतिहासिक वस्तु की ओर भी नाटककारों की दृष्टि गई।

'नाटक' नामक प्रबन्ध में नवीन नाटकों के उद्देश्य पर विचार करते हुए भारतेंदु श्री हरिश्चंद्र ने कहा है—'इन नवीन नाटकों

की रचना के मुख्य उद्देश्य ये होते है यथा—१ शृङ्गार २ हास्य ३ कौतुक ४ समाज-संस्कार ५ देशवत्सलता।' नाटक के इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अनुकूल विषय भी लिए गए। चौथे और पाँचवे उद्देश्य की पूर्ति सामाजिक नाटको द्वारा हुई। यह सभी पर प्रकट है कि भारतेंदु-युगीन साहित्य की प्रमुख प्रवृत्ति लोकोन्मुखी है। लोक वा समाज पर इसकी दृष्टि विशेष जाती थी। इसी कारण उस समय समाज में फैली कुरीतियों के संस्कार वा निवारण को दृष्टि-पथ में रखकर भी उस युग में प्रभूत साहित्य निर्मित हुआ। देश वत्सलता की पूर्ति के लिए इन लोगों ने प्राचीन भारत के गौरव की प्रतिष्ठा की ओर भी ध्यान दिया और प्राचीन भारत के सद्गुणों से देशवासियों को लाभ उठाने के लिए प्रेरित किया। अभिप्राय यह कि भारतेंदु-युगीन नाटकों में सामाजिक विषयों की भी स्थापना हुई। इस युग के प्रायः सभी नाटककारो—भारतेंदु श्री हरिश्चंद्र, श्री प्रतापनारायण मिश्र, श्री बदरी नारायण चौधरी 'प्रेमघन', श्री बालकृष्ण भट्ट आदि—ने सामाजिक नाटक लिखे। यहीं इसे भी स्मरण रखना है कि सामाजिक नाटकों में ही हास्य, व्यंग्य और विनोद की संस्थिति विशेष रूप से हुई, जो उस युग के साहित्य के प्रमुख और प्रभावशाली तत्त्व है। इन्हीं तत्त्वों की निहिति के कारण उस युग के साहित्य में सजीवता के दर्शन होते है।

इस युग में एकाध नाटक ऐसा मिलता है जिसमे नाटक-रचना-शैली और विषय दोनों दृष्टियों से स्वच्छंदता की प्रवृत्ति (रोमांटिक टेंडेंसी) अधिक उभरी हुई लक्षित होती है। यथा—लाला श्रीनिवासदास कृत 'रणधीर-प्रेममोहिनी' में। यह नाटक भारतीय नाटक-रचना-शैली के बंधन से मुक्त है, इसमें प्रस्तावना आदि नहीं है, यह भारतीय पद्धति के विरुद्ध दुःखांत भी है। इसकी कथा में भी स्वच्छंद प्रेम है। इसे अँगरेजी के प्रेम मिश्रित दुःखांत (कामेडी-ट्रेजिडी) नाटकों के समान समझना चाहिए।

विषय-विस्तार के साथ ही भारतेंदु-युग के नाटकों में इसके पूर्व-युग में प्रचलित केवल शृंगार और वीर रसों के अतिरिक्त हास्य और करुण -रसो की भी स्थापना हुई।

—४—

प्राचीन भारत की साहित्य शास्त्रीय दृष्टि से साहित्य 'शिवेतरक्षति' का साधन है। साहित्य के परम लक्ष्य ब्रह्मानंद सहोदर रसानुभूति के साथ जन, जीवन और समाज की मंगल की भावना भारतीय साहित्य से संबद्ध है। इसी कारण भारत के प्राचीन साहित्य से प्रेरणा ग्रहण करने वाला पुरातन हिंदी-साहित्य परोक्षतः और प्रत्यक्षतः भी जन, जीवन और समाज के मंगल पर सदैव दृष्टि रखता रहा। शिव और शिवेतरक्षति पर विशेष दृष्टि रखने के कारण यत्रतत्र यह स्पष्टतः उपदेशात्मक भी हो गया। समाज की परिस्थितिवश एक समय ऐसा भी आया जब इस मंगल पर बहुत ही कम लोगो की दृष्टि गई। यहाँ हमारी दृष्टि शृंगार-काल पर है।

भारतीय नाटक-रचना के साथ तो मंगल-भावना विशिष्ट रूप से जुड़ी हुई है। इसके आदि में 'नांदी' और अंत में 'भरतवाक्य' का विधान ही लोक में शिवत्व की स्थापना की कामना से प्रेरित है। यदि भारतेंदु-युग के बाद के नाटकों में नहीं तो इस युग के नाटको में तो शिव का यह तत्त्व विशेष रूप से संनिहित था। अपने 'नाटक' नामक प्रबंध में भारतेंदु श्री हरिश्चंद्र ने कहा—"···नाटक रचना में उद्देश्य फल उत्तम निकलना बहुत आवश्यक है···नाटक के परिणाम से दर्शक और पाठक कोई उत्तम शिक्षा अवश्य पावे।' भारतेंदु-युग के प्रायः सभी नाटकों में उद्देश्य-फल की उत्तमता मिलेगी।

—५—

हिंदी-नाटको के लिए रंगमंच की समस्या भारतेंदु-युग से ही चली आ रही है और वह आज तक भी हल नही हो पाई है। हिंदी का अपना रंगमंच न होने के कारण अभिनेयता की दृष्टि से आज भी हिंदी के कम ही नाटक सार्थक उतरेंगे। इसका कारण रंगमंच से नाटककारों का असंपर्क है। वे इसकी सुविधा-असुविधा से अच्छी तरह परिचित नहीं हो पाते।

भारतेंदु श्री हरिश्चंद्र ने अभिनेयता की दृष्टि से नाटको के तीन भेद अपने 'नाटक' नामक प्रबंध में किए हैं—काव्यमिश्र, शुद्ध कौतुक और भ्रष्ट। 'काव्यमिश्र' नाटकों से उनका अभिप्राय सच्चे अर्थों में कहे जानेवाले नाटकों से है। 'शुद्ध कौतुक' [illegible] मतलब कठपुतली आदि के खेल से है। 'भ्रष्ट' के विषय म[illegible] हैं—'भ्रष्ट अर्थात् जिनमें अब नाटकत्व नहीं शेष रहा है यथा भाँड़, इंद्रसभा, रास, यात्रा, लीला और झाँकी आदि। पारसियों के नाटक, महाराष्ट्रों के खेल आदि यद्यपि काव्यमिश्र हैं तथापि काव्यहीन होने के कारण वे भी भ्रष्ट ही समझे जाते है।' भारतेंदु श्री हरिश्चंद्र की दृष्टि में पारसी कंपनियो के नाटकों का कितना महत्त्व था, यह इस उद्धरण से स्पष्ट है। और इन कंपनियों की चाल उनके युग मे ही नहीं, उनके बाद के युग मे भी किसी न किसी रूप मे चलती रही। पारसी कंपनियों द्वारा अभिनीत नाटकों का रूप देखे। 'नाटक' नामक प्रबंध में भारतेंदु श्री हरिश्चंद्र कहते है—'काशी में पारसी नाटकवालो ने नाचघर में जब शकुंतला नाटक खेला और उसमें धीरोदात्त नायक दुष्यंत खेमटे-वालियों की तरह कमर पर हाथ रखकर मटक-मटककर नाचने और 'पतरी कमर बलखाय' यह गाने लगा तो डाक्टर थीबो, बाबू प्रमदादास

मित्र प्रभृति विद्वान् यह कह उठ आए कि 'अब देखा नहीं जाता। ये लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं।'

रंगमंच के असंपर्क अथवा भ्रष्ट रंगमंच के परिचय के कारण भारतेंदु-युग के कम ही नाटक अभिनेयता की दृष्टि से सफल उतरेंगे। कुछ कथोपकथन मात्र हैं, कुछ के संलाप की भाषा भाषाओं का चिड़ियाघर है, कुछ में स्वगत आदि के आतिशय्य का दोष है, आदि। फिर भी रंगमंच की दृष्टि से उस युग के कुछ नाटक सफल अवश्य उतरते हैं।

३

द्विवेदी-युग

(सन् १९०३-१८)

—१—

द्विवेदी-युग में आकर भारतेंदु-युग में नवीन रूप से आरंभ हुए साहित्य के कई अंगो का विकास उत्तरोत्तर जारी रहा—विशेषतः काव्य, निबंध और आलोचना का। कथा के विकास का आरंभ भी इस युग के आरंभ में ही हुआ और यह उन्नति के मार्ग पर था। प्रेमचंद का उदय इस युग की सीमा में ही हुआ और वे उत्तरोत्तर बढ़ते गए। उन्होंने अपने युग के अनेक कथाकारों को प्रभावित भी किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेंदु-युग से चलकर आए साहित्य के ये सभी अंग विकास के पथ पर थे। साहित्य के इन अंगों में विकास भी आया और इन्होंने समय और परिस्थिति के अनुसार नवीन तत्त्वों का प्रवर्तन भी किया—विषय की दृष्टि से भी और विषयाभिव्यक्ति की शैली की दृष्टि से भी। भाषा के क्षेत्र में भी द्विवेदी-युग में नवीन ढंग से प्रवर्तन हुआ।

यदि परंपरित रूप में चलता रहा तो केवल द्विवेदी-युगीन नाटक ही। हम देखते हैं कि इस युग में नाटक की धारा भारतेंदु-युग के

समान ही प्रवाहित होती रही और इसमें प्रवर्तन हुआ भी, तो सन् '२१ के बाद, जो इस युग की काल-सीमा के बाहर आता है। सन्' २१ में श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने जब नाटकों को नवीन मार्ग पर खड़ा किया तब उसमें आधुनिक तत्त्वों का संनिवेश हुआ। तात्पर्य यह कि अन्य क्षेत्रों की भाँति नाटक के क्षेत्र में भारतेंदु-युग के पश्चात् द्विवेदी-युग में नवीन तत्त्व नहीं आये, इसमें नवीन तत्त्वों का आगमन तब हुआ जब श्री प्रसाद ने नवीन विषय और शैली के सहारे इनका आरंभ किया। यहाँ यह भी स्मरण रखना है कि श्री प्रसाद के जो छोटे-मोटे आरंभिक नाटक हैं वे. भी भारतेंदु-युगीन परंपरा के ही हैं। श्री प्रसाद ने नवीन ढंग के नाटकों का आरंभ छायावाद-रहस्यवाद-युग के आरंभ से किया, अर्थात् सन् '२१ से। इस प्रकार हिंदी-नाटको में विकास के तत्त्व एक युग के पश्चात् आए, द्विवेदी-युग में इनमे कोई विकास नहीं आया।

द्विवेदी-युगीन नाटकों में नवीनता के संनिहित न होने के भी कई कारण थे। हम देखते हैं कि इस युग के साहित्यकार गद्य और पद्य दोनों की भाषा के संस्कार-सुधार की दृष्टि से बहुत ही प्रगतिशील हैं, साहित्य के बाह्य तत्त्वों के विकास पर उनकी दृष्टि सदैव रही, परंतु साहित्य का जो अंतः-तत्त्व है, अर्थात् जिन भावो-विचारो की अभिव्यक्ति उस युग के साहित्यकारो ने की वे परंपरित है, वे वैसे ही हैं जैसे किसी न किसी रूप में भारतेंदु-युग में अभिव्यक्त हुए, जिनका संबंध भारतीय प्राचीन परंपरा से अधिक है। द्विवेदी-युग भावों, विचारों आदि अनेक दृष्टियों से परंपरावादी ही है। ऐसी परिस्थिति में भारतेंदु-युगीन नाटकों का आदर्श ही द्विवेदी-युग में ग्रहण किया गया।

द्विवेदी-युग में साहित्य के अन्य अंगो में कम से कम शैली की दृष्टि से अवश्य प्रवर्तन हुआ परंतु नाटक में शैली की दृष्टि से भी

नवीनता नहीं आई। इसका कारण यह है कि इस युग के प्रायः सभी साहित्यकार काव्य, निबंध और किसी न किसी रूप में निबंध की ही कोटि में आनेवाली आलोचना की ओर विशेष मुड़े, कथा और नाटक में इनकी रुचि कम दिखाई पड़ी। ऐसी अवस्था में एक तो नाटकों की कम रचना भी हुई और दूसरे इसकी शैली में नवीन तत्त्वों के निहित करने की ओर भी ये लोग नहीं गये। एक बात यह भी है कि सफलतापूर्वक नाटक-रचना का कार्य भी सुगम नहीं है, इस ओर प्रवृत्त न होने के कारणों में से एक नाटक-रचना की दुरूहता भी है।

—२—

भारतेंदु-युग की भाँति पौराणिक नाटकों का सिलसिला द्विवेदी-युग में भी चला और श्री मैथिलीशरण गुप्त ने 'चंद्रहास,' श्रीबद्रीनाथ भट्ट ने 'वेनचरित,' श्रीसुदर्शन ने 'अंजना,' श्रीगोपालराम गहमरी ने 'वभ्रुवाहन' नामक नाटक लिखे। इनके अतिरिक्त भी कुछ पौराणिक नाटक लिखे गये। हम देखते हैं कि भारतेंदु-युगीन पौराणिक नाटकों और इस युग के पौराणिक नाटकों में अंतर है। भारतेंदु-युगीन पौराणिक नाटकों के विषय प्रधानतः राम और कृष्ण से संबद्ध हैं। राम और कृष्ण से संपृक्त कथानक—यथा हनूमान आदि का—लेकर नाटक लिखे भी गए, तो बहुत ही थोड़े। द्विवेदी-युग के पौराणिक नाटकों के कथानक राम और कृष्ण के जीवन से संबद्ध नहीं हैं और यदि हैं भी तो प्रत्यक्ष रूप से नहीं, परोक्ष रूप से। मतलब यह कि इस युग में नाटक के लिए पौराणिक ऐसे कथानक गृहीत हुए जो राम, कृष्ण की कथा की भाँति बहुत प्रचलित नहीं हैं।

'महाभारत' की कथाओं को लेकर श्री मिश्रबंधु ने 'पूर्व भारत,' जिसमें उत्तरा-अभिमन्यु के परिणय तक की कथा है, और श्रीविश्वंभर-नाथ शर्मा कौशिक ने 'भीष्म' नाटक लिखा।

भारतेंदु-युग में ऐतिहासिक नाटक कम क्या बहुत कम रचे गए, द्विवेदी-युग में इस ढंग के नाटकों को लिखने की ओर लोगों की वृत्ति अधिक गई। यहाँ यह भी स्मरण रखना है कि द्विवेदी-युग में काव्य के क्षेत्र में भी साहित्यकारों की दृष्टि पुराण और इतिहास की ओर अत्यधिक थी। द्विवेदी-युग में आर्य-समाज, ब्रह्मसमाज, राम-कृष्ण परमहंस, विवेकानंद, आदि संस्थाओं तथा व्यक्तियो द्वारा भारत के प्राचीन गौरव को पुनः भारतवासियो के संमुख लाने तथा उसी को दृष्टि मे रख कर जीवन और समाज को चलाने का पक्ष प्रबल था। ये लोग आर्यों की प्राचीन जीवन तथा समाज-व्यवस्था को अपने युग में भी स्थापित करने के पक्षपाती थे, और ऐसे ही विचारों का इन्होंने प्रचार किया। इस अवस्था में प्राचीन भारत के आदर्श पौराणिक तथा ऐतिहासिक व्यक्तियों और घटनाओं को द्विवेदी-युग के कवियों तथा नाटककारो ने अपनी रचनाओ के लिए ग्रहण किया। इस प्रकार की परिस्थिति से प्रभावित होकर श्री जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी ने 'तुलसीदास,' श्री मिश्रबंधु ने 'शिवाजी,' श्री बद्रीनाथ भट्ट ने 'चंद्रगुप्त,' 'तुलसीदास' और 'दुर्गावती,' श्री वियोगीहरि ने 'प्रबुद्ध यामुन,' श्री चतुरसेन शास्त्री ने 'अमर राठौर,' तथा 'उत्सर्ग' नाटक प्रस्तुत किए। श्री यामुनाचार्य श्री रामानुजाचार्य के गुरु थे, उन्हीं के जीवन-वृत्त के आधार पर श्री वियोगीहरि ने 'प्रबुद्ध यामुन' नाटक लिखा।

श्री प्रेमचंद ने कर्बला के युद्ध-क्षेत्र में हुसेन के युद्ध तथा उनकी मृत्यु की कथा को लेकर 'कर्बला' नामक नाटक लिखा। पूर्ण रूप से यवनों के इतिहास को लेकर नाटक रचने का उस समय हिंदी में संभवतः यह प्रथम प्रयत्न था।

द्विवेदी-युग के इन पौराणिक तथा ऐतिहासिक नाटकों मे वीर तथा करुण रस का प्राधान्य है। शृंगार इसके पौराणिक तथा ऐतिहासिक नाटक इस युग में अत्यल्प निर्मित हुए। जीवन तथा समाज में सुधार के लक्ष्य को लेकर चलने के कारण इस युग की रचनाओं में शृंगार के तत्त्व बहुत ही कम आए। इस युग के प्रायः सभी प्रतिनिधि रचनाकारों ने शृंगार का विरोध किया। रीति तथा भारतेंदु-युगीन शृंगार की वृत्ति तो इस युग में गृहीत ही नहीं की जा सकती थी।

—२—

एक स्थान पर इसका निर्देश किया गया है कि अपने युग की परिस्थितियों से प्रभावित होकर द्विवेदी-युगीन नाटककारो ने अपने लक्ष्य-साधन के अनुरूप ही पौराणिक तथा ऐतिहासिक वस्तु का चयन किया। आदर्शवादी युग होने के कारण नवीन और प्राचीन भारत में जो घटनाएँ और व्यक्ति आदर्श थे, और पुराण तथा इतिहास में उस युग के आदर्श को स्थापित करनेवाली जो घटनाएँ और व्यक्ति थे उन्हीं को लोगो ने अपने नाटको का विषय बनाया। उस युग के आदर्श को दृष्टि-पथ में रखकर इन पौराणिक तथा ऐतिहासिक नाटकों के अतिरिक्त सामाजिक नाटक भी लिखे गए। सामाजिक नाटकों मे उस युग की तथा उस युग के पूर्व से चली आती हुई समाजगत कुरीतियो के चित्र और उनसे मुक्त होने के प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से सुझाव हैं। इनमें भलाई-बुराई के फलाफल भी हैं, जो काफी उभरे रूप में दिखाए गए हैं।

सामाजिक नाटकों में ग्रामीण तथा नागरिक दोनों कुरीतियों का उद्घाटन समाज के संमुख किया गया है। श्रीप्रेमचंद ने 'संग्राम' नामक नाटक लिखा, जिसमें जमींदारों के अपनी प्रजा के प्रति प्रेम-व्यापार,

द्रव्य के लेन-देन मे अनेक नियम लगाकर रुपये का बारह आना देना, ग्रामीणों में गहने का शौक आदि के चित्र हैं। श्री मिश्रबंधु ने 'नेत्रोन्मीलन' नामक नाटक लिखकर मुकदमे लड़ने के दोष सामने रखे हैं। श्री जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने 'मधुरमिलन' नाटक मे अनमेल विवाह, नारी-अपहरण, छद्मवेश समाज-सुधारक, कवि-सम्मेलन के अव्यवस्थित रूप आदि के चित्र खींचे हैं। इसमे स्वयंसेवकों के महत्त्व तथा समाज के लिए उनकी उपयोगिता पर विशेष दृष्टि रखी गई है। श्रीबद्रीनाथ भट्ट ने 'चुंगी की उम्मीदवारी या मेंबरी की धूम' लिखा है। यह प्रहसन है। श्रीगोपालराम गहमरी ने 'देश-दशा' नामक नाटक लिखा।

द्विवेदी-युगीन सामाजिक नाटकों का रूप इसी ढंग का है। जिस प्रकार भारतेंदु-युग के सामाजिक नाटको में हास्य, व्यंग्य और विनोद की संस्थिति मिलती है उसी प्रकार इस युग के नाटको मे भी। हास्य, व्यंग्य और विनोद द्वारा सामाजिक कुरीतियो पर प्रहार कर उन्हे निर्जीव और अनावश्यक समझ उनसे विलग रहने के लिए प्रेरित करना ऐसे नाटको का लक्ष्य होता है। इसी लक्ष्य को दृष्टि-पथ मे रखकर द्विवेदी-युगीन नाटकों मे भी हास्य, व्यंग्य तथा विनोद की स्थापना की गई है। श्रीजगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी तथा श्रीबद्रीनाथ भट्ट के नाटको मे हास्य, व्यंग्य तथा विनोद के तत्त्व पर्याप्त मात्रा में हैं।

सामाजिक नाटको में हास्य, व्यंग्य और विनोद के तत्त्व तो रखे ही गए। श्री जी० पी० श्रीवास्तव ने इसी युग में सामाजिक विषयों को लेकर हास्य रस के नाटकों का लिखना प्रारंभ किया, जिनका स्तर काफी नीचा है। इनके लक्ष्य मोलियर हैं। इनके नाटकों को खेल-खिलवाड़ कहना चाहिए, साहित्यिकता जिनसे अधिक दूर है।

—४—

भारतेंदु-युग की भाँति द्विवेदी-युग में भी अनुवादों का होना जारी रहा और उसी युग की भाँति इस युग में भी संस्कृत, बंगला और अँगरेजी से नाटकों का अनुवाद प्रस्तुत हुआ। यहाँ यह स्मरण रखना है कि नाटकों के अनुवाद की गतिविधि इस युग में पूर्व-युग की अपेक्षा तीव्र रही और बँगला तथा अँगरेजी से अधिक अनुवाद किए गए। भारतेंदु-युग में इन दोनों भाषाओं से अनुवाद कम हुए थे। द्विवेदी-युग में भवभूति के नाटकों को अनूदित करने की ओर लोगों की दृष्टि विशेष थी। इनके 'उत्तररामचरित' तथा 'मालतीमाधव' का श्री सत्यनारायण कविरत्न द्वारा प्रसिद्ध अनुवाद इसी युग में हुआ था। अवधवासी लाला सीताराम ने भी इसी समय 'महावीरचरित,' 'उत्तर रामचरित' तथा 'मालतीमाधव' का अनुवाद किया। इन्होंने 'नागानंद,' 'मृच्छकटिक,' तथा 'मालविकाग्निमित्र' का अनुवाद भी प्रस्तुत किया। संस्कृत के कुछ और नाटकों का अनुवाद भी किया गया। जैसे—'स्वप्नवासवदत्ता' आदि का।

इस प्रकार विदित होता है कि संस्कृत से अनूदित नाटकों के विषय भारतेंदु-युग की भाँति ही प्रायः पौराणिक हैं। कुछ ऐतिहासिक नाटक भी अनूदित हुए जैसा कि ऊपर के विवरण से ज्ञात होता है। इन नाटकों में शृंगार, वीर और करुण रसों की निहिति है।

दो कुशल अनुवादक श्रीरामचंद्र वर्मा और श्रीरूपनारायण पांडेय ने बँगला के नाटकों का अनुवाद हिंदी में किया। इन लोगों ने द्विजेंद्रलाल राय, गिरीशचंद्र घोष, रवींद्रनाथ ठाकुर आदि के नाटकों को अनूदित किया। बँगला से हिंदी में अनूदित नाटकों में ऐतिहासिक तथा सामाजिक नाटक दोनों हैं। श्रीप्रेमचंद ने 'न्याय' (जस्टिस), 'हड़ताल' (स्ट्राइक) और 'चाँदी की डिबिया' (सिलवर बाक्स) अँगरेजी से अनूदित किए। श्री जी० पी० श्रीवास्तव ने मोलियर के कई

नाटकों का अनुवाद अँगरेजी से किया। इसी प्रकार लाला सीताराम ने भी शेक्सपीयर के कई नाटकों का अनुवाद किया। भारतेंदु-युग में श्रीरामकृष्ण वर्मा ने अनुवाद ही अनुवाद किए, कोई मौलिक रचना नहीं लिखी, वैसे ही द्विवेदी-युग में लाला सीताराम ने भी अनुवाद ही किए, कोई मौलिक रचना नहीं प्रस्तुत की। श्रीरामचंद्र वर्मा ने बर्नार्ड शा के 'जोन आव् आर्क' तथा एक अमरीकी नाटककार के 'स्टेप हस्बेंड' नाटक का अनुवाद 'मॅगनी के मियाँ' नाम से किया।

इस प्रकार ज्ञात होता है कि द्विवेदी-युग मे अनूदित नाटको की गतिविधि अच्छी रही और संस्कृत के नाटको का अनुवाद कुछ कम और बँगला तथा अँगरेजी के नाटकों का अनुवाद अधिक हुआ। भारतेंदु-युग में बात इससे ठीक उलटी थी। द्विवेदी-युगीन अनूदित नाटको मे मूल के भावों, विचारों तथा शैली को अनुवाद में यथार्थ वा ज्यों के त्यों रूप में रखने की ओर लोगों की दृष्टि विशेष थी और ऐसा करना आवश्यक था, क्योकि अब भाषा तथा साहित्य आधुनिकता की दृष्टि से पर्याप्त संस्कृत तथा विकसित हो चुका था, और ऐसी परिस्थिति में अनुवाद के क्षेत्र में भारतेंदु-युगीन प्रवृत्ति को ग्रहण करना अनुचित होता। मूल की भाँति ही पद्य और गद्य के यथास्थल संस्थान पर भी लोगों की दृष्टि रही।

—५—

द्विवेदी-युग में नाटक-रचना-पद्धति की दृष्टि से भी विकास और संस्कार नहीं हुआ। इस युग में भारतेंदु-युग से चली आती हुई नाटक-रचना-शैली का ही ग्रहण किया गया। नांदी, प्रस्तावना, भरतवाक्य आदि प्राचीन तत्त्वों को प्रायः सभी नाटकों में रखा गया। श्री वियोगी-हरि के 'प्रबुद्ध यामुन' में ये सभी तत्त्व संनिविष्ट किए गए हैं।

इस युग में ऐतिहासिक नाटक लिखे तो गए परंतु ऐतिहासिक नाटक की रचना का आदर्श ग्रहण नहीं किया गया। नाटक अथवा साहित्य के अन्य अंगा की रचना के लिए इतिहास से सामग्री लेकर भी स्वच्छंदता-पूर्वक उसके उपयोग की चर्चा प्रायः ऐतिहासिक नाटकों के संबंध में होती है। ऐतिहासिकता पर दृष्टि रखते हुए साहित्यगत स्वच्छंदता का समर्थन सभी करेंगे। परंतु इसके साथ ही जहाँ इतिहास की सचाई का त्याग तथा ऐतिहासिक वातावरण की अवहेलना वस्त्र, वाणी, आचार, व्यवहार आदि दृष्टियो से की जाती है वहाँ सभी देश तथा कालो में ऐतिहासिक नाटक कही जानेवाली रचना का विरोध होता है। ऐतिहासिक नाटक मे कल्पना का उपयोग तो किया जा सकता है परंतु उसमें इतिहास के व्यक्तियो के क्रिया-कलाप, उनकी स्थिति, अस्थिति, उनकी मनोवृत्ति, आचरण आदि पर यथार्थ दृष्टि रखनी ही होगी। इसी प्रकार इतिहास की घटनाओ को भी ज्यो का त्यो रखना ही चाहिए। यद्यपि साहित्य की स्थापना की दृष्टि से इनमे हेर-फेर किया जा सकता है, परंतु उतना ही जितना इतिहास की सचाई बनाए रखे। द्विवेदी-युग के कुछ ऐतिहासिक नाटकों ने इतिहास पर दृष्टि नही रखी। श्री चतुसेन शास्त्री के दोनों नाटक—'अमर राठौर' और 'उत्सर्ग'—ऐतिहासिक हैं, परन्तु उनमें इतिहासगत त्रुटियाँ मिलती है। 'अमर राठौर' मे नाटककार ने अर्जुन गौड़ के लिए प्राणदंड की व्यवस्था की है, परंतु इतिहास से ज्ञात होता है कि यह तेरह वर्ष पश्चात् धर्मत के युद्ध में मारा गया। दूसरे नाटक में भी ऐतिहासिक त्रुटियाँ हैं। श्री बद्रीनाथ भट्ट के 'दुर्गावती' नाटक में भी ऐतिहासिक वातावरण संबंधी त्रुटियाँ मिलती हैं।

नाटक को रचना दृश्य काव्य को दृष्टि-पथ मे रखकर न होने के कारण इस युग के कुछ नाटक वस्तु-संविधान, चरित-चित्रण, अभिनेयता

आदि दृष्टियों से सफल नहीं हो पाए हैं। श्री देवीप्रसाद 'पूर्ण' का 'चंद्रकला-भानुकुमार' नामक नाटक पठ्य वा श्रव्य काव्य की दृष्टि से तो रमणीय है, परंतु नाटक-रचना-शैली की दृष्टि से वह सफल नही हो पाया है। इसकी वस्तु बृहत् है, और उसका संविधान भी समुचित नही है, अतः इसका अभिनेय होना संभव नहीं है। श्री प्रेमचंद का 'कर्बला' नाटक भी ऐसा ही है। इसकी वस्तु भी बड़ी है और रंग मंच पर हत्या, युद्ध आदि की अधिक संस्थिति के कारण यह अभिनेय नहीं है। युद्ध को कमी की व्यवस्था सूचना आदि द्वारा कर देने पर इसमे अभिनेयता आ सकती थी। यह भी श्रव्य वा पठ्य दी है।

नाटकों में अभिनेयता की कमी अथवा इसके अभाव का कारण हिंदो का अपना रंगमंच न होना है। भारतेंदु-युग में भी इस दृष्टि से ऐसी बात देखी गई है। जैसे भारतेंदु-युग में पारसी-कंपनियों के अशिष्ट अभिनय का प्रचार था उसी प्रकार द्विवेदी-युग मे भी। ये कंपनियाँ द्विवेदी-युग में भी अभिनय करती रही हैं। इस युग के हिंदी क नाटककार का रंगमंचीय अनुभव भी इन कम्पनियो के रंगमंच का-सा ही था। अभिनय की दृष्टि से पारसी-कंपनियों के नाटक ही उनके सामने थे। ऐसी अवस्था में उनके नाटको में वस्तु, व्यक्ति और व्यापार का संविधान भी प्रायः पारसी-कंपनियो के रंगमंच को दृष्टि में रखकर होता था, जो रंगमंच अनेक दृष्टियों से विकसित नही था, यह साधिकार कहा जा सकता है। अभिप्राय यह कि पारसी, कंपनियो के नाटको का प्रभाव द्विवेदी-युग के कुछ नाटकों पर भी पडा। श्री बद्रीनाथ भट्ट के 'दुर्गावती' नाटक में स्वगत पद्यबद्ध है, रानी भी शेर कहती हुई देखी जाती है। इसे पारसी-कंपनियों के नाटकों का ही प्रभाव समझना चाहिए।

—६—

द्विवेदी-युगीन नाटकों की वस्तु तथा उनकी रचना-शैली की चर्चा की गई है। जिन नाटकों की चर्चा की गई है वे द्विवेदी-युग की सीमा के अंतर्गत आते है, दो-चार ऐसे हैं, जो इस युग की समय-सीमा के कुछ आगे-पीछे भी रचे गए। इन पर विचार भी इसलिए इस युग के साथ ही किया गया कि इनकी प्रवृत्ति द्विवेदी-युगीन नाटकों की-सी ही है।

विचार करने पर विदित होता है कि द्विवेदी-युग में नाटक की रचना करनेवाले साहित्यकारों में से कोई हिंदी का प्रसिद्ध नाटककार नहीं है। इसका कारण यही है कि इस युग में नाटक लिखनेवाला कोई व्यक्ति रचना-शैली अथवा अन्य दृष्टियों से भी नवीनता की उद्भावना नहीं कर सका। सभी ने भारतेंदु-युग से चली आती हुई नाटक-रचना की परंपरा का पालन किया। जैसे भारतेंदु-युग में कुछ लोगों ने नाटक-रचना-कौशल पर बिना ध्यान रखे दो-एक नाटक लिख दिए उसी प्रकार द्विवेदी-युग में भी अन्य प्रकार की रचनाओं के साथ ही एकाध नाटक भी साहित्यकारों ने लिख दिया, जो शैली आदि की दृष्टि से प्रायः परंपरावादी है। कुछ नाटक तो किसी संस्था में अभिनय करने के लिए लिख दिए गए है। ऐसी अवस्था में उनमें जबर्दस्ती मनोरंजकता लाने के लिए ओछे हास्य वा विनोद की निहिति कर दी गई है, जिससे रचना खिलवाड़ हो गई है। श्री जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, श्री बद्रीनाथ भट्ट तथा दो-चार और लोगों की कुछ रचनाएँ ऐसी ही हैं।

४

छायावाद-रहस्यवाद-युग

(सन् १९१८–३५)

—१—

हिंदी के नाटको में नवीन प्रवर्तन की संस्थिति एक युग के पश्चात् हुई, अर्थात् द्विवेदी-युग में उनमें कोई नवीनता नहीं आई, वे परंपरित रूप में ही चलते रहे। उनमें नवीन तत्वो के दर्शन छायावाद-रहस्यवाद-युग में हुए। छायावाद-रहस्यवाद-युग में ही श्री जयशंकर 'प्रसाद' की मौलिक नाटकीय प्रातिभा प्रकाशित हुई दिखाई पड़ी और इस युग में ही श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र ने समस्या-नाटक का संनिवेश हिंदी-साहित्य में किया। कुछ और कुशल नाटककार भी इस युग में दृष्टिगत हुए। विचार करने पर विदित होता है कि हिंदी-नाटक के क्षेत्र में स्वच्छंदता की वृत्ति लेकर चलनेवाले दो ही प्रमुख नाटककार हैं—एक भारतेंदु श्री हरिचंद्र और दूसरे श्री जयशंकर 'प्रसाद'। न्यूनाधिक रूप में और नाटककारों में भी स्वच्छंदता की वृत्ति आई; जैसे श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र में, परंतु उक्त दो रचनाकारों में इस वृत्ति का प्राधान्य रहा और इसे ग्रहण कर उन्होंने नाटक के क्षेत्र में उच्चकोटि का कार्य किया। उन लोगों ने हिंदी के नाट्य-साहित्य में अपनी स्वच्छंद प्रवृत्ति के द्वारा

जो मौलिकता प्रविष्ट की उसके लिए उनकी प्रशंसा तो होनी ही चाहिए—स्वच्छंद वृत्ति को कार्यान्वित करना भी कम साहस का काम नहीं—परन्तु देश और काल की माँग भी इस कार्य में उनकी सहायिका हुई। साहित्य के और जीवन के क्षेत्र में भी नवीनता की स्थापना का समुचित समय होता है, और ऐसे समय में भी मौलिक दृष्टि से कार्य करनेवालों का महत्त्व है। भारतेन्दु श्री हरिश्चंद्र और श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने समय की माँग के अनुकूल नाटकों में नवीनता जोड़ी और यदि उन्होंने समयानुकूलता पर दृष्टि रख नवीन पद्धति की रचनाएँ आविर्भूत न की होतीं तो हिंदी के नाट्य-साहित्य का और उनका भी इतना महत्त्व आज न होता।

हिंदी-नाटक के क्षेत्र में नवीनता वा स्वच्छंदता का प्रवर्तन करनेवाले नाटककारों के संमुख नाटक की संविधान-पद्धति और रचना-शैली की समस्या विशेष थी, वस्तु-ग्रहण थी उतनी विशेष नहीं। भारतेंदु श्री हरिश्चंद्र, श्री जयशंकर 'प्रसाद', श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र आदि सभी की दृष्टि इन्हीं पक्षों की नवीनता पर अधिक थी। नाटकों में वस्तु पक्ष की नवीनता जीवन और समाज में परिवर्तन के साथ स्वतः आती गई। संविधान-पद्धति और रचना-शैली में नवीनता भी परिस्थिति के परिणाम-स्वरूप ही आई। भारतेंदु-युग के नाटकों में जो स्वच्छंदता दृष्टिगत हुई वह अँगरेजी नाटको के अध्ययन-मनन के प्रभाव द्वारा। इस युग के नाटको में नांदीपाठ, मंगलाचरण, प्रस्तावना, भरतवाक्य आदि के विधान का निषेध यह प्रभाव ही था। लाला श्री निवासदास के 'रणधीर-प्रेममोहिनी' की रचना-शैली में जो स्वच्छंदता दिखाई पड़ी वह अँगरेजी नाटकों के प्रभाव के कारण ही। स्वयं भारतेंदु श्री हरिश्चंद्र ने भी इस प्रकार की स्वच्छंदता दिखाई थी। वैसे तो एक प्रकार से नाटक-रचना का समुचित आरंभ ही भारतेंदु-युग से हुआ, इस दृष्टि से तो

भारतेंदु-युग का बहुत महत्व है, परंतु इस युग में संविधान और रचना-शैली के क्षेत्र मे स्वच्छंदता और नवीनता का आभास मात्र मिला। जिन नाटककारो के नवीनता का अनुममन भी किया उनकी सभी रचनाओं मे इसके दर्शन नहीं मिलते और मिलते भी हैं, तो यत्र-तत्र। प्रतीत ऐसा होता है कि वे परपरा से इतने अभिभूत थे कि नवीनता के संनिवेश से डरते थे। ऐसी परिस्थिति में जिन लोगो ने नवीनता वा स्वच्छंदता दिखाई वे सराहनीय हैं।

नाटक के क्षेत्र में भारतेंदु-युग की ही परंपरा द्विवेदी-युग में भी चली, इसे देखा जा चुका है, अतः इस युग में नाटक में कोई नवीनता नहीं आई। नवीनता आई छायावाद-रहस्यवाद-युग में। नवीनता वा स्वच्छंदता को ग्रहण करने की ओर इस युग की प्रवृत्ति परिस्थितिवश भारतेंदु-युग की अपेक्षा अधिक अनुकूल थी। 'अधिक अनुकूल' से तात्पर्य यह है कि परपरा की अभिभावना इस युग के नाटककारो से भारतेंदु-युग की अपेक्षा अधिक उठी हुई थी। छायावाद-रहस्यवाद-युग में अँगरेजी तथा अन्य विदेशी साहित्य, बँगला-साहित्य का अध्ययन-मनन प्रभूत रूप से हुआ और इन साहित्यों मे जो स्वच्छंदता वा नवीनता थी शिष्ट नाटककारों में उसे उचित रूप मे ग्रहण करने की वृत्ति भी जगी। छायावाद-रहस्यवाद-युग में नाटक के क्षेत्र में नवीनता वा स्वच्छंदता का प्रवर्तन करनेवाले नाटककारो के संमुख बँगला के श्री द्विजेंद्रलाल राय, अँगरेजी के शेक्सपीयर, (अँगरेजी में अनूदित) इब्सन, बर्नार्ड शा आदि के नाटक थे, जिनकी ओर इनका आकर्षण हो सकता था। श्री द्विजेंद्रलाल राय और शेक्सपीयर के नाटकों मे काव्य-तत्त्व का प्राधान्य है। छायावाद-रहस्यवाद-युग काव्य-वैभव का युग था, ऐसी दशा में नाटक के क्षेत्र में भी काव्यत्व का प्रवेश स्वाभाविक था और इस कार्य के संपन्न होने में द्विजेंद्रलाल राय और शेक्स-पीयर के नाटको से

प्रत्यक्ष प्रेरणा मिली। श्री जयशंकर 'प्रसाद' जैसे प्राचीन साहित्य के भी प्रेमी नाटककारो की दृष्टि इन नाटककारों की रचनाओ पर तो गई ही संस्कृत के काव्य भर नाटकों पर भी गई और संस्कृत के काव्यमय नाटकों की परंपरा, जहाँ तक काव्यत्व का संबंध है, उन्होने हिंदी में स्थापित की। नाटक भी काव्य का एक भेद है, वे इस धारणा को लेकर चले। भारतेंदु-युग के नाटकों में काव्यत्व का संनिवेश तो है परंतु उसका संपूर्ण संभार छायावाद-रहस्यवाद-युग में श्री जयशंकर 'प्रसाद' के नाटकों मे दिखाई पड़ा।

औद्योगिक क्रांति के परिणाम स्वरूप यूरोपीय समाज और जीवन में भौतिकवाद के प्राधान्य के कारण संघर्ष और वैषम्य की परिस्थिति उत्पन्न हो जाने पर नाटकों में काव्यत्व की अल्पता और बुद्धिवाद का आधिक्य हुआ। नाटकों से काव्यत्व के निष्कासन और तर्क तथा समाज एवं जीवन की कठोर समस्याओं को उनमे न्यस्त करने की माँग की गई। ऐसी परिस्थिति में वहाँ इब्सन, बर्नार्ड शा आदि के समस्या-नाटको का प्राबल्य हुआ। हिंदी में श्री जयशंकर 'प्रसाद' को काव्यमय नाटकों के विरुद्ध भी ऐसी आवाज सुनाई पड़ी और श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्या-नाटको का आविर्भाव हुआ। ये समस्या-नाटक भावुकता-पूर्ण नाटकों के प्रतिक्रिया स्वरूप खड़े हुए थे परंतु ये इससे कहाँ तक बचे रहे, यह विचारणीय है।

इसका संकेत किया गया है कि श्री जयशंकर 'प्रसाद' के संमुख श्री द्विजेंद्रलाल राय और शेक्सपीयर के काव्यमय नाटक थे और इनसे उन्हें प्रत्यक्ष प्रेरणा मिली। साथ ही इसका भी संकेत किया गया है कि श्री 'प्रसाद' की दृष्टि संस्कृत के काव्यमय नाटकों पर भी थी। देखने से विदित होगा कि श्री जयशंकर 'प्रसाद' के नाटकों में श्री द्विजेंद्रलाल राय और शेक्सपीयर के नाटको में स्थित काव्यत्व की अपेक्षा

अधिक काव्यत्व है। इसका कारण यह है कि इन नाटककारों के नाटको से प्रभावित होकर भी उन्होंने दृष्टि संस्कृत के नाटकों पर रखी, संस्कृत के नाटकों में काव्यत्व पद्यबद्ध है और उनके नाटकों में गद्यबद्ध।

नाटकों की विधान-पद्धति की दृष्टि से विचार करने पर विदित होता है कि लंबे कथोपकथन तथा स्वगत भाषण श्री द्विजेंद्रलाल राय तथा शेक्सपीयर के नाटकों में तो मिलते ही हैं भारतेंदु-युगीन नाटकों में भी मिलते हैं। भारतेंदु श्री हरिश्चंद्र के 'सत्यहरिश्चंद्र नाटक' में भी इनका विधान हुआ है। लंबे कथोपकथन के विरोधी समस्या-नाटककारों के नाटको में भी किन्हीं स्थलों पर लंबे कथोपकथन दिखाई पड़ते हैं। कम से कम हिंदी में तो ऐसा मिलता ही है। श्री जयशंकर 'प्रसाद' के नाटकों में यह तत्त्व प्रभूत रूप से मिलता है।

भारतेंदु-युगीन कुछ नाटककारों की रचनाओं से नांदी, प्रस्तावना, भरतवाक्य आदि के हटने की बात कही जा चुकी है। छायावाद-रहस्य-वाद-युगीन श्री जयशंकर 'प्रसाद' के नाटकों में भी ये संविहित नहीं हुए। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्या-नाटकों में भी इनको संस्थिति नहीं है। भारतेंदु-युगीन नाटकों में यत्रतत्र क्या प्रायः निष्कंभक आदि का संविधान दिखाई पड़ता है, परंतु छायावाद-रहस्यवाद-युगीन नाटकों में इनके दर्शन नहीं होते—न श्री जयशंकर 'प्रसाद' के नाटकों में हो और न श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के ही नाटकों में। परंतु ऐसे दृश्य नहीं रहते, यह नहीं कहा जा सकता। ऐसे दृश्य अवश्य रहते हैं, परंतु उन्हें निष्कंभक आदि नाम नहीं दिए जाते। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों में अभिनेताओं की सुविधा के लिए रंग-संकेत भी उन्हीं के द्वारा दिया गया है। कुछ अन्य नाटककारों के नाटकों में भी ऐसी बात मिलती है। श्री जयशङ्कर 'प्रसाद' ने अपने बाद के नाटकों से अंक के

अंतर्गत आने वाले 'दृश्य' शब्द को भी हटा दिया और उसके स्थान पर केवल संख्या रखी। जैसे 'चंद्रगुप्त मौर्य' में। परंतु 'स्कंदगुप्त विक्रमादित्य' में तो संख्या भी हटा दी, केवल स्थान-सूचना ही रखी। यहाँ इसका स्मरण रखना आवश्यक है कि नाट्य अथवा अभिनय-कला के मूल तत्त्व प्राचीन काल से समान रूप से चले आते हैं, केवल उनके उपयोग की विभिन्न शैलियाँ समयानुसार आविर्भूत होती रहती हैं। भारतेंदु और छायावाद-रहस्यवाद युगीन नाटकों की नाट्य अथवा अभिनय-कला में समयानुसार परिवर्तन हुए हैं, परंतु इन कलाओं के मूल तत्त्वों का समावेश चाहे किसी भी शैली में दोनों युगों के नाटकों में मिलेगा। ऐसी अवस्था में श्री जयशङ्कर 'प्रसाद', श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र आदि के नाटकों में 'प्रस्तावना', 'विष्कंभक' आदि नाम रहें अथवा नहीं, परंतु इनके समान दृश्यों का संविधान किसी न किसी रूप में करना ही पड़ता है—नाट्य अथवा अभिनय-कला की सुविधा के लिए।

इस मीमांसा से विदित होता है कि भारतेंदु-युगीन नाटकों की अपेक्षा छायावाद-रहस्यवाद-युगीन नाटकों में नवीनता और स्वच्छंदता का संनिवेश अधिक है, वह युग परिस्थितिवश अधिक नवीन तथा स्वच्छंद प्रवृत्ति की ओर बढ़ा।

छायावाद-रहस्यवाद-युगीन नाटकों में श्री 'प्रसाद'-जैसे नाटककारों-ने गीत का संविधान किया, परंतु समस्या नाटकों में श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र-जैसे नाटककारों ने इसकी उपयोगिता नहीं समझी। इन्होंने गीत रखा भी तो एकाध पंक्ति मात्र का। ऐसा इन्होंने इसलिए किया कि ये लोग भावुकता के विरोधी हैं, यद्यपि इनके नाटकों के पात्र कम भावुक नहीं दिखाई पड़ते। श्री जयशङ्कर 'प्रसाद' के नाटकों में गीत को अतिरिक्त रूप से संविहित समझा गया है। इस विषय में यह कहना पड़ता है कि इनके नाटकों में गीतों के विधान की परिस्थिति तथा

स्वयं इनके विधान के कारणों पर तनिक सहानुभूतिपूर्वक विचार करने के पश्चात् किसी निर्णय पर पहुँचना चाहिए। अभिनय की दृष्टि से जहाँ तक सामाजिकता का प्रश्न है नाटकों में गीत का संविधान आवश्यक प्रतीत होता है—यदि किसी अन्य उपयोग के लिए नहीं तो मन रमाने के लिए ही। ऐसी अवस्था में नाटक में गीतों का संविधान उपयोगी ही समझना चाहिए।

दो एक स्थलों पर श्री जयशङ्कर 'प्रसाद' पारसी कंपनियों की नाट्य कला के चक्कर में कैसे फँस गए, यह समझते नहीं बनता। मेरा अभिप्राय यहाँ पद्यबद्ध सलाप से है और यह 'स्कंदगुप्त विक्रमादित्य'-जैसे नाटक में मिलता है। देखिए—

स्त्रियाँ—हे नाथ !
हमारे निर्बलों के बल कहाँ हो
हमारे दीन के संबल कहाँ हो
पुरुष—नहीं हो नाम ही बस नाम है क्या
सुना केवल यहाँ हो वा वहाँ हो
स्त्रियाँ—पुकारा जब किसी ने तब सुना था
भला विश्वास यह हमको कहाँ हो
(स्त्रियों को पकड़ कर हूण खींचते हैं)
मातृगुप्त—हे प्रभु !
हमें विश्वास दो अपना बना लो
सदा स्वच्छंद हों—चाहे जहाँ हों।
(प्रथम अंक, पृष्ठ ४०, द्वितीय संस्करण)

मातृगुप्त या कालिदास-जैसे पात्र से ऐसा संलाप कराना बहुत ही अशोभन लगता है—आधुनिक नाट्य-कला की दृष्टि से; वैसे संस्कृत के नाटकों में भी यत्र-तत्र श्लोकबद्ध संलाप मिलता है।

—२—

छायावाद-रहस्यवाद-युग में भारतेंदु और द्विवेदी युगों की भाँति ही नाटक के विषय अनेक क्षेत्रों से गृहीत हुए। इतिहास, पुराण, वर्तमान समाज आदि सभी क्षेत्रों से सम्बद्ध वस्तु इस युग के नाटकों में आई। अध्यवसित रूपक के'रूप में भी कुछ नाटक प्रस्तुत हुए। प्रधान रूप से वर्तमान समाज को लेकर समस्या नाटकों का आविर्भाव इस इस युग में हुआ। पौराणिक वस्तु के आधार पर भी कुछ रचनाएँ प्रस्तुत हुईं। इस प्रकार विदित होता है कि पूर्व युगों की भाँति ही इस युग में भी नाटकों की वस्तु का क्षेत्र बहुमुखी था।

५

श्री जयशंकर 'प्रसाद'

—१—

छायावाद-रहस्यवाद-युग में इतिहास से वस्तु ग्रहण कर नाटक रचनेवाले कई नाटककार दृष्टिगत हुए, परंतु इनमें से श्री जयशंकर 'प्रसाद' सर्वप्रमुख और सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होते हैं। इस युग के ही नहीं प्रत्युत हिंदी-साहित्य के श्रेष्ठ नाटककारों में श्री जयशंकर 'प्रसाद' अग्रणी हैं। भारतेंदु श्री हरिश्चन्द्र के पश्चात् ये ही ऐसे नाटककार दिखाई पड़ते हैं जिनकी रचना में प्रौढ़ि और स्थायित्व का अत्यधिक अंश विद्यमान है। यदि नाटक-विकास की परिस्थितियों से दृष्टि हटा ली जाय तो श्री 'प्रसाद' भारतेंदु श्री हरिश्चंद्र से अनेक अंशों में आगे बढ़े नाटककार जान पड़ेंगे और इस प्रकार हिंदी के नाट्य-साहित्य में श्री 'प्रसाद' का बहुत ही-उच्च पद निश्चित होता है। परंतु परिस्थितियों को दृष्टि-पथ में रखकर ही कोई पद निश्चित करना न्याय संगत होगा।

—२—

छायावाद-रहस्यवाद-युग तथा इसके पूर्व के युगों में नाटककारों ने वस्तु-ग्रहण में इतिहास के जिन कालों पर दृष्टि रखी उन 'कालों' में भेद है। हम देखते हैं कि भारतेंदु तथा द्विवेदी-युगों में नाटककारों की दृष्टि प्रायः भारतीय इतिहास के मध्य काल तक ही गई, परंतु छायावाद-रहस्यवाद-युग में नाटककारों ने विशेष रूप से भारतीय इतिहास के आदि काल पर दृष्टि

रखी। श्री जयशंकर 'प्रसाद' की दृष्टि तो इसी काल पर थी। भारतेंदु-युग में इतिहास के अध्ययन-मनन की ओर लोगों की विशेष प्रवृत्ति नही थी। भारत के अतीत इतिहास के अनुशीलन की ओर भी तब तक विद्वान् नहीं लगे थे। अतः निकट कालीन इतिहास पर ही उन नाटककारों की दृष्टि गई, विशेषतः मध्यकालीन इतिहास पर। परंतु इधर आकर भारत के आदि कालीन इतिहास की अच्छी छानबीन प्रारंभ हुई और इस क्षेत्र में कुछ कार्य भी हुआ। इसी कारण हम देखते हैं कि श्री जयशंकर-'प्रसाद'-जैसे इतिहास के पंडित नाटककारों की वृत्ति भारत के प्राचीन इतिहास से नाटकों के लिए वस्तु ग्रहण करने की हुई और इस क्षेत्र में वे पूर्णतः सफल दिखाई पड़े।

'विशाख' के प्रथम संस्करण (सन् १९२१) की भूमिका में श्री जयशंकर 'प्रसाद' भारतीय इतिहास से अपने नाटकों के लिए वस्तु ग्रहण करने का व्रत लेते हुए भी दिखाई पड़ते हैं। कहते हैं—"मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकांड घटनाओं का दिग्दर्शन करने की है जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है।" इस वक्तव्य में श्री 'प्रसाद' ने भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश को उद्घाटित करने की इच्छा प्रकट की है। निश्चय ही 'अप्रकाशित अंश' से उनका तात्पर्य ऐसे अंश से है जिस ओर लोगों की दृष्टि नहीं गई है न इससे उनका अभिप्राय अनुसंधानित अंश से भी हो सकता है। विचार करने पर विदित होता है कि 'अप्रकाशित अंश' के इन दोनों तात्पर्यों पर श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने दृष्टि रखी है। उनकी दृष्टि इतिहास के उन अंशों पर गई है जिनकी ओर लोगों की दृष्टि नहीं गई थी। जैसे—'अजातशत्रु' और 'जनमेजय का नागयज्ञ' में आधृत इतिहास पर। अनुशीलन द्वारा उन्होंने नाटकों में अपनी स्थापनाएँ भी संमुख की हैं। 'स्कंदगुप्त विक्रमादित्य' में मातृगुप्त को कालिदास के रूप

में उन्होंने स्वीकार किया है। अन्य ऐतिहासिक नाटकों की कथा वस्तु के स्थिर करने में भी उन्होंने इतिहास की अनुशीलन-वृत्ति का परिचय दिया है। प्राचीन इतिहास की बिखरी घटनाओं को लेकर नाटक की सुसंघटित वस्तु के लिए उनकी विधि बैठाने में भी उनकी अनुशीलन-वृत्ति सफल हुई है।

वक्तव्य में उन्होंने अतीत की ऐसी ही घटनाओं पर विशेष दृष्टि रखने का व्रत लिया है जिसके द्वारा वर्तमान के निर्माण में सहायता मिलो है। यहाँ इसका स्मरण रखना आवश्यक है कि श्री 'प्रसाद' ने केवल भारत के कोरे अतीत इतिहास को ही अपने नाटकों में प्रस्तुत नहीं किया है वरन् उसके साथ ही तत्कालीन संस्कृति को भी उपस्थित करने का श्लाघ्य प्रयत्न किया है। अतीत द्वारा वर्तमान के निर्माण में सहायता भी । इतिहास के साथ ही संस्कृति को संमुख रखने से हो हो सकती थी। संस्कृति के चित्र देने पर दृष्टि रखने के कारण किसी किसी नाटक की वस्तु-संघटना कुछ ढीली भो हो गई है, जिस पर कुछ पंडितों ने आक्षेप किया है । परन्तु श्री 'प्रसाद' के तत्कालीन संस्कृति उपस्थित करने के लक्ष्य को दृष्टि पथ में रख कर विचार करने पर ऐसे आक्षेप की कोई गुंजाइश दृष्टिगत नहीं होती। यथार्थ को लेकर चलने वाले श्री 'प्रसाद' की दृष्टि सदैव आदर्श पर भी थी। ऐसी परिस्थिति में भारत के अतीत इतिहास और उसकी संस्कृति को सामने रख कर उन्होंने वर्तमान में पड़े अपने को तौलने का हमें पूरा अवसर दिया और ऐसा कर आगे बढ़ने की पूर्ण प्रेरणा भी की । अपने नाटकों में प्राचीन इतिहास और संस्कृति को लेकर श्री 'प्रसाद' ने वर्तमान काल में अपेक्षित राष्ट्रीयता' और देशभक्ति के प्रति लोगों को आकृष्ट किया। 'स्कंदगुप्त विक्रमादित्य और 'चन्द्रगुप्त मौर्य' नाटकों में राष्ट्रीयता और देशभक्ति का पूर्ण समावेश है। अपने नाटकों में उन्होंने भारतीय संस्कृति के आदर्श रूप

को चित्रित करने का पूरा प्रयत्न किया है। ऐसा करने में अन्य देशीय संस्कृति को उन्होंने कहीं भी अनुचित विगर्हणा नहीं की है। भारतीय संस्कृति से मेरा अभिप्राय हिंदू-संस्कृति से है। बौद्ध दर्शन से प्रभावित होते दिखाई पड़ते हुये भी उनकी श्रद्धा बौद्धों के प्रति होती दिखाई नहीं पड़ती। इसका एक कारण यह भी है कि इतिहास के जिन कालो की वस्तु को उन्होंने ग्रहण किया उनमें बौद्धों की अवनति हो रही थी, ऐसी दशा में उनके वैसे ही रूपों को दिखाना अनिवार्य हो गया जो श्रद्धामय नहीं दिखाई पड़ता। इस प्रकार विदित होता है कि श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने भारत के अतीत इतिहास और उसकी संस्कृति को सामने कर वर्तमान के निर्माण में सहायता करने का प्रयत्न किया।

अपने ऐतिहासिक नाटकों में श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने ऐतिहासिकता और संस्कृति का पूरा ख्याल रखा है, इन्हें अपने काल के विरुद्ध नहीं पड़ने दिया है। इसका पालन वे सफलतापूर्वक कर भी सकते थे, क्योंकि इतिहास के पंडित थे। नाटकों में ऐतिहासिकता का उनका-सा निर्वाह करने वाला दूसरा नाटककार हिंदी में नहीं दिखाई पड़ता। वे सच्चे ऐतिहासिक नाटककार के रूप में हमारे संमुख उपस्थित होते हैं। उनके नाटकों में ऐतिहासिक दृष्टि से कोई त्रुटि नहीं दिखाई पड़ती। केवल 'चन्द्रगुप्त मौर्य' में चन्द्रगुप्त का पचीस वर्ष का कार्य-काल कुछ खटकता है, जिस पर समीक्षकों का ध्यान प्रायः आकृष्ट होता है। घटनाओं की सुचारु संघटना के लिये यत्र-तत्र कल्पना का उपयोग भी करना पड़ता है, इसे उन्होंने स्वीकार भी किया है। कहा है—'पात्रों की ऐतिहासिकता के विरुद्ध चरित्र की सृष्टि, जहाँ तक संभव हो सका है, न होने दी गई है। फिर भी कल्पना का अवलंब लेना ही पड़ा है, केवल घटना की परंपरा ठीक करने के लिये।' (स्कंदगुप्त विक्रमादित्य, परिशिष्ट, पृ० ४०, द्वितीय संस्करण) इससे स्पष्ट है कि कल्पना का उपयोग नाटकों के

चरित्र में ही किया गया है, घटनाओं में नहीं और यह कल्पना ऐतिहासिकता की रक्षा करते हुये की गई है। 'जनमेजय का नागयज्ञ' में भी श्री 'प्रसाद' ने यह बात कही है। (प्राक्कथन, पृ० ४ द्वितीय; संस्करण) इसमें उन्होंने इस कल्पना को 'नाटकीय स्वतंत्रता' कहा है।

भारतेंदु और द्विवेदी-युगों में तथा छायावाद-रहस्यवाद-युग में इतिहास से वस्तु-ग्रहण की नाटककारों की प्रवृत्ति की भिन्नता की बात देखी गई है। इसका भी ध्यान रखना चाहिये कि छायावाद-रहस्यवाद-युग में ऐतिहासिक नाटकों में ऐतिहासिकता की प्रतिष्ठा की दृष्टि से श्रीजयशंकर 'प्रसाद' जितने सफल दिखाई पड़ते हैं उतने पूर्व-युगों के नाटककार नहीं। इतिहास और संस्कृति का जितना सम्यक् निर्वाह श्री 'प्रसाद' ने किया उतना पूर्व युगों के नाटककारों ने नहीं, पूर्व युगों के नाटककारों में इस दृष्टि से त्रुटियों का संकेत यथास्थल किया जा चुका है।

—३—

श्री जयशंकर 'प्रसाद' के नाटकों में प्रभूत काव्य-तत्त्व की प्रतिष्ठा की बात कही जा चुकी है। इस दृष्टि से वे अपने नाटकों में नाटककार के साथ ही कवि के रूप में भी संमुख आते हैं। इसका निर्देश भी किया गया है कि वे काव्य और नाटक में कोई भेद करके नहीं चले। भारतीय दृष्टि से इनमें कोई भेद है भी नहीं। काव्य और नाटक का भेद वर्तमान युग में गद्य के प्राधान्य के कारण हुआ। बात यह है कि इधर बुद्धिवाद के प्रचार के कारण नाटकों से भावुकता का निष्कासन हुआ और इनमें विचारात्मकता का आधिक्य स्थापित किया जाने लगा। ऐसी परिस्थिति में नाटक को भारतीय परंपरा के विरुद्ध गद्य के क्षेत्र की वस्तु माना गया। गद्यात्मकता के साथ ही इसमें विचारात्मकता भी आई। आज नाटक को साहित्य का काव्य से भिन्न दूसरा अंग माने जाने का यही

कारण है। आज समस्या नाटक अपना अलग अस्तित्व इसी रूप में स्थापित करते हैं।

श्री 'प्रसाद' के नाटक काव्य ही हैं। परंतु उनके काव्यों के काव्यत्व तथा नाटकों के काव्यत्व में भेद है। उनके काव्य में काव्यत्व का अंश अपेक्षाकृत अधिक है। नाटकों में अधिक और सर्वत्र काव्यत्व की प्रतिष्ठा भी नहीं हो सकती। उनमें काव्य के अनुकूल स्थलों पर ही काव्य रखा जा सकता है और जहाँ तक नाटकों का प्रश्न है, आज के युग में यही उचित भी है। नाटकों में स्थित काव्य की अभिव्यंजना तथा काव्यों में आई अभिव्यंजना में भी अंतर है। नाटकों के काव्यात्मक स्थलों पर आई अभिव्यंजना में वह वक्रता, संभार और वैभव नहीं है जो काव्यों की अभिव्यंजना में है। यदि है भी तो दो-चार स्थलों पर ही। इसका कारण यह है कि नाटकों में वस्तु को विकसित करने के लिए सामान्य संलापों का ही आधिक्य रहता है। विचारात्मक और भावात्मक संलापों के लिए गुंजायश कम होती है। यही कारण है कि श्री 'प्रसाद' के नाटकों में काव्यत्व है तो, परंतु काव्य की अपेक्षा कम।

—४—

श्री 'प्रसाद' के काव्य में जितनी विचार-धाराओं का प्रवाह है उतनी नाटकों में वे प्रवाहित नहीं मिलतीं। सांख्य और बौद्ध दर्शन की विचारणा उनके नाटकों में तो कई स्थलों पर मिलती है, परंतु उनके काव्यों में स्थित रहस्यवाद की झलक नाटकों में नहीं मिलती और यदि मिलती भी है तो एकाध स्थल पर ही। हाँ, श्री 'प्रसाद' के नियतिवाद की विचारणा उनके काव्यों की अपेक्षा नाटकों में अधिक है। काव्यों की भाँति प्रकृतिचित्रण और निराशावाद की झलक भी यत्र-तत्र उनके नाटकों में मिलती है। उनके नाटकों में देश-भक्ति और राष्ट्रीयता के तत्त्व की बात की जा चुकी है। दो-चार कविताओं को छोड़कर उनके

काव्य में इस तत्व का समावेश नहीं मिलता, परन्तु उनके नाटक राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत हैं।

—५—

श्री 'प्रसाद' के नाटकों में भारतीय परंपरा की दृष्टि से रस तथा आधुनिकता की दृष्टि से चरित्र-चित्रण दोनों के संनिवेश के कारण उनकी प्रभूत प्रशंसा होती है, जो उचित भी है। उनके नाटक के पात्रों के चरित्र में उतार-चढ़ाव और अंतर्द्वन्द्व अच्छा है। प्रत्येक प्रमुख चरित्र का उन्होंने अपना विशिष्ट रूप भी सुरक्षित रखा है। इस प्रकार जहाँ तक चरित्र-चित्रण का भी प्रश्न है, वे काफी सफल प्रतीत होते हैं। इसी संबंध में एक बात पर भी दृष्टि जाती है। वह यह कि आधुनिकता की दृष्टि से श्री 'प्रसाद' ने चरित्र-चित्रण पर भी दृष्टि रखी, इसका तात्पर्य यह कि भारतीय परंपरा मे चरित्र-चित्रण नहीं है और न इसका कोई महत्त्व है। सफल चरित्र-चित्रण का अर्थ यदि चरित्र के अंतर्द्वन्द्व का प्रदर्शन है तो यह भारतीय नाटकों में सर्वत्र और सफलतापूर्वक अंकित मिलेगा। इसमें संदेह नहीं कि लक्ष्य के आधार पर भारतीय आचार्यों ने चरित्रों के धीर, धीर प्रशांत, धीर ललित, धीरोद्धत प्रकार तथा गुण निर्धारित कर दिए थे और बाद के नाटककारों ने इन्हीं पर विशेष दृष्टि रखी। परन्तु इन प्रकारों के चरित्रों में भी जीवन के उतार-चढ़ाव और अंतर्द्वन्द्व की प्रभूत और अनुकरणीय स्थापना है। 'उत्तर रामचरित' के राम में अंतर्द्वन्द्व की कम स्थापना नहीं है, इसमें राम के जीवन में जैसे अंतर्द्वन्द्व हैं वैसा आधुनिक नाटकों के चरित्रों में भी विरला मिलेगा। राम के चरित्र अथवा जीवन के उतार-चढ़ाव की ओर संकेत स्वयं कवि ने उनके लिए 'वज्राऽदपि कठोरानि मृदूनिकुसुमादपि' कह कर, करदिया है। इसी प्रकार 'अभिज्ञान शाकुंतल' में भी शकुंतला के जीवन में कम अंतर्द्वन्द्व की स्थापना नहीं है। मुद्रिका

खो जाने के पश्चात् दुष्यंत की राज-सभा में शकुंतला के मन में जैसा संघर्ष चलता है वैसा संघर्ष आधुनिक चरित्रों में भी मिलता है, परन्तु कम में। कहना यह है कि श्री 'प्रसाद' के नाटकों में स्थित चरित्र-चित्रण को देख, उसे आधुनिकता का ही प्रभाव नहीं स्वीकार किया जा सकता। भारतीय परंपरा में भी चरित्र-चित्रण का काफी रूप मिलता है।

जगत् और जीवन में मिलने वाले अनेक प्रकार के व्यक्तियों की भाँति श्री जयशंकर 'प्रसाद' के नाटकों में भी अनेक प्रकार के शील से संपन्न चरित्र मिलते हैं; और उनके सभी चरित्रों की अपनी अलग-अलग विशेषताएँ हैं। चरित्रों के कुछ प्रकार ऐसे हैं जो उनके प्रायः सभी नाटकों में मिलते हैं। जैसे, उनके प्रायः सभी नाटकों में एक चरित्र ऐसा अवश्य रहता है जो बहुत ही दृढ़ होता है, उसे कोई भी बाधा विचलित नहीं कर पाती। 'अजातशत्रु' की मल्लिका ऐसी ही है। इसने तो उक्त नाटक में आए बुद्ध भगवान् को भी ढाँप रखा है। स्कंदगुप्त भी ऐसा ही चरित्र है। एक भावुक चरित्र का विधान भी वे अपने प्रायः सभी नाटकों में करते हैं। 'स्कंदगुप्त विक्रमादित्य' की देवसेना और 'चंद्रगुप्त मौर्य' की कार्नेलिया ऐसी ही है। ऐसे ही चरित्रों द्वारा नाटकों में काव्यत्व का सन्निवेश हुआ है। श्री 'प्रसाद' ने अपने नाटकों में विदूषकों की योजना भी की है जो केवल प्राचीन विदूषकों की भाँति दरबारी तथा पेटू ब्राह्मण ही नहीं हैं, वरन् नाटकों की वस्तु को विकसित करने में सहायक भी हैं। भारतीय और पश्चिमी परंपरा की भी भाँति श्री 'प्रसाद' ने नायक के साथ ही प्रतिनायक का विधान भी रखा है, जिससे नाटक की वस्तु में संघर्ष के सन्निवेश में सुविधा होती है और नाटक की वस्तु में संघर्ष की नियोजना आवश्यक है—नाटक सफल बनाने के लिए।

—६—

श्री जयशंकर 'प्रसाद' के प्रायः सभी नाटक वीर रस प्रधान हैं, यद्यपि उनमें शृंगार की धारा भी प्रवाहित होती है। करुणा का पुट भी उनके नाटकों में मिलता है। हास्य का आभास भी कुछ नाटकों में उन्होंने दिया है। श्री 'प्रसाद' के नाटकों में रसके विषय में विशेष रूप मे यह ध्यान रखना है कि उनमें वीर और शृंगार रसों की ही संपन्नता है। किसी में कोई प्रधान है और किसी में कोई। कुछ नाटक ऐसे हैं जिनमें वीर और शृंगार दोनों साथ-साथ चलते हैं। जैसे—'चंद्रगुप्त मौर्य' और 'स्कंदगुप्त विक्रमादित्य' में। इन नाटकों में जहाँ तक पात्र-पात्रियों का वैयक्तिक संबंध है, वे प्रायः शृंगार रस की संपन्नता में लगे दिखाई पड़ते हैं और जहाँ तक सामूहिक रूप से सभी का संबंध समष्टि से है, वे वीर रस को निष्पन्न करते देखे जाते हैं। श्री 'प्रसाद' ने दो-एक नाटकों में उनके रस (वा लक्ष्य) को स्वयं व्यक्त कर दिया है। 'चंद्रगुप्त मौर्य' के आरंभ में उन्होंने 'हर्षचरित' का निम्नलिखित श्लोक उद्धृत कर उसके रस की प्रधानता का संकेत दिया है—

> अंगण-वेदी वसुधा, कुल्या जलधिः स्थली च पातालम्।
> वल्मीकश्च सुमेरुः, कृत-प्रतिज्ञस्य वीरस्य ॥

—७—

नाट्यकला की दृष्टि से यदि श्री जयशंकर 'प्रसाद' के नाटकों की मीमांसा की जाय तो प्रायः सभी नाटक खरे उतरेंगे। वस्तु के संविधान में उन्होंने सर्वत्र कसावट से काम लिया है। यदि कहीं कुछ ढिलाई दिखाई भी पड़ती है तो सोद्देश्य ही अथवा अनिवार्यतावश आई प्रतीत होती है। जैसे, 'स्कंदगुप्त विक्रमादित्य' का अंतिम दृश्य नाटक के संविधान में ढिलाई तो लाता है, परंतु देवसेना और स्कंदगुप्त को जीवन-व्यापार की

पूर्णता दिखाने के लिए उसकी अनिवार्यता आ उपस्थित हो गई थी। 'चंद्रगुप्त मौर्य' में दृश्यों के आधिक्य के कारण उसकी कहीं-कहीं शिकायत होती सुनी जाती है। परंतु श्री 'प्रसाद' करते क्या? नाटक की पूर्णता के लिए अधिक वस्तु को संमुख लाने की जरूरत थी, जिससे दृश्यों का आधिक्य हो गया। किसी-किसी नाटक में इतिहास के अतिरिक्त संस्कृति को उपस्थित करने के कारण दो-चार दृश्य अधिक हो गए हैं। छोटी-बड़ी वस्तु के अनुसार उन्होंने उसके संविधान के लिए यथावश्यकता नाटकों में तीन, चार और पाँच अंकों की योजना की है। जिन नाटकों में पाँच अंकों की योजना है, उनमें कार्य की पाँचों अवस्थाओं का क्रमानुसार कुशलतापूर्वक निर्वाह किया गया है। अर्थात् पाँचो अंकों में क्रमशः कार्य की पाँचों अवस्थाएँ—आरंभ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम—रखी गई हैं। 'स्कंदगुप्त विक्रमादित्य' में वस्तु की संघटना इसी रूप में हुई है और इस दृष्टि से यह नाटक बहुत ही सफल प्रतीत होता है। ऐसे नाटकों में पश्चिमी दृष्टि से विचार करने पर भी वस्तु का संविधान कुशलतापूर्वक हुआ दिखाई पड़ता है। इन में परिचय (इंट्रोडक्शन) संहर्ष (कांप्लिकेशन), चरम सीमा (क्लाइमैक्स), नमनशील अवस्था (टर्निंग प्वाइंट) और फल (रेजल्ट अथवा कैटेस्ट्राफी) की अवस्थाएँ क्रमशः मिल जाती हैं। तीन और चार अंक के नाटकों में एक अंक में दो-दो कार्य की अवस्थाओं का संविधान हुआ दिखाई पड़ता है। 'चंद्रगुप्त मौर्य' में चार ही अंक हैं। इसमें चौथे अंक में ही नियताप्ति और फलागम संविहित है। इस नाटक के चौथे अंक में अत्यधिक कथा का सन्निवेश हो गया है। चौथे अंक की इस अत्यधिक वस्तु को नाटक में पाँचवाँ अंक रखकर कम किया जा सकता था, परंतु ऐसा क्यों नहीं किया गया, यह समझ में नहीं आता। श्री 'प्रसाद' के कुछ नाटकों में तीन ही अंक हैं। जैसे, 'ध्रुवस्वामिनी'

और 'जनमेजय का नागयज्ञ' में। इधर पश्चिम में भी तीन अंकों के नाटकों के लिखने की अधिक चलन है, जिनमें कार्य को तीन अवस्थाओं में बाँट देते हैं—आदि, मध्य और अंत की अवस्था में। ऐसे तीन अंकों के नाटकों में प्रथम अंक में वस्तु, पात्र और लक्ष्य का परिचय रखा जाता है, द्वितीय में लक्ष्य प्राप्ति के लिए पात्रों का कार्य में पूर्णतः प्रवृत्ति दिखाई जाती है और तृतीय में फल वा लक्ष्य की प्राप्ति रहती है। 'जनमेजय का नागयज्ञ' में ऐसा ही किया गया है।

—८—

श्री जयशंकर 'प्रसाद' के नाटकों में भारत के प्राचीन इतिहास और संस्कृति से संबद्ध वस्तु के ग्रहण करने के कारण इनमें संस्कृत की तत्सम पदावली का आधिक्य है, जो स्वाभाविक है। प्राचीन इतिहास और संस्कृति की अभिव्यक्ति के लिए ऐसी ही भाषा विशेष उपयुक्त है। विचार करने पर विदित होगा कि उच्च कुल-शील के पात्रों की भाषा संबंधी जो नीति संस्कृत के नाटकों में बरती गई है उसी नीति का पालन श्री जयशंकर 'प्रसाद' ने हिंदी में अपने नाटकों में किया है। भिन्नता केवल इतनी ही है कि उन्होंने संस्कृत के नाटककारों की भाँति स्त्री तथा निम्न वर्ग के पात्रों से प्राकृत आदि की भाँति दूसरी प्रकार की भाषा का प्रयोग नहीं कराया है। श्री 'प्रसाद' के नाटकों में सभी एक ही प्रकार की भाषा का उपयोग करते हुए देखे जाते हैं। 'रंगमंच' नामक निबंध में उन्होंने लिखा है कि "...भाषा की एकतंत्रता नष्ट करके कई तरह की खिचड़ी भाषाओं का प्रयोग हिंदी नाटकों के लिए ठीक नहीं।" (काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृष्ठ ११६, प्रथम संस्करण।)

श्री 'प्रसाद' के नाटकों की भाषागत क्लिष्टता के कारण उन के नाटकों की अभिनेयता में कुछ लोगों को संदेह था, परन्तु उनके सभी नाटक अब सफलतापूर्वक अभिनीत हो चुके हैं। शिक्षा और संस्कृत

रुचि-संपन्न अभिनेता और सामाजिक के रहने पर श्री 'प्रसाद' के नाटकों-जैसे नाटक भी सफलतापूर्वक अभिनीत हो सकते हैं। ऐसे नाटकों के लिये नवीन रंगमंच की आवश्यकता होगी, इसमें संदेह नहीं। इसी को दृष्टि में रख कर श्री 'प्रसाद' ने कहा है—"रंगमंच के सम्बन्ध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिये लिखे जायँ। प्रयत्न तो यह होना चाहिये कि नाटक के लिये रंगमंच हों, जो व्यावहारिक है।" (वही)

६

अन्य ऐतिहासिक नाटककार

श्री जयशंकर 'प्रसाद' के अतिरिक्त कुछ अन्य नाटककारों ने भी ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं, परन्तु उतने नहीं जितने श्री 'प्रसाद' ने। ऐतिहासिक नाटकों की ओर श्री 'प्रसाद' की एकनिष्ठता थी। ऐतिहासिक नाटक लिखने वाले अन्य नाटककारो ने दूसरे विषयों पर भी नाटक प्रस्तुत किये हैं। छायावाद-रहस्यवाद-युग में भी नाट्य-साहित्य की कमी के कारण नाटककारों की श्रेणी में ऐसे रचनाकार भी आये जिन्होंने एकाध नाटक ही रच दिये। ऐतिहासिक नाटक लिखने वालों में से भी दो-एक ऐसे हैं। श्री जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिंद' ऐसे ही नाटककार हैं। आप का एक ही नाटक 'प्रताप प्रतिज्ञा' है।

पांडेय श्री बेचन शर्मा 'उग्र' का 'महात्मा ईसा' विषय की दृष्टि से तो ऐतिहासिक नाटक ही ठहरता है, यद्यपि उनमें ऐतिहासिकता कम और काल्पनिकता—वस्तु की दृष्टि से—अधिक है। इसमें ईसा को भारतीयता द्वारा प्रभावित दिखाया गया है। पात्र प्रायः काल्पनिक हैं। परन्तु अभिनेयता, चरित्र-चित्रण, कथोपकथन आदि की दृष्टि से यह बहुत ही खरा उतरता है, यही इसकी विशेषता है।

छायावाद-रहस्यवाद-युग के अन्य नाटककारों ने भी ऐतिहासिक नाटक प्रस्तुत किए। श्री गोविंददास ने 'हर्ष' लिखा और श्री उदयशंकर भट्ट ने 'दाहर या सिंधपतन' तथा 'विक्रमादित्य'। इसी प्रकार श्री हरि-

कृष्ण 'प्रेमी' ने 'शिवा-साधना' तथा 'रक्षाबंधन' और श्री गोविंदवल्लभ पंत ने 'राजमुकुट' लिखा। श्री जयशंकर 'प्रसाद' के ऐतिहासिक नाटकों की मीमांसा हम कर चुके हैं। इन ऐतिहासिक नाटकों पर यदि वस्तु की दृष्टि से विचार किया जाय तो स्पष्टतः विदित होगा कि इनके दो वर्ग हैं। के नाटक तो वे हैं जिनकी वस्तु का संबंध भारत के अतीत इतिहास से एक वर्ग है, जैसी वस्तु का ग्रहण श्री 'प्रसाद' ने अपने नाटकों के लिए किया। श्री गोविंददास का 'हर्ष' और श्री उदयशंकर भट्ट का 'दाहर या सिंधपतन' तथा 'विक्रमादित्य' इसी वर्ग में आयेंगे। दूसरा वर्ग ऐसे नाटकों का होगा जिनकी वस्तु का संबंध यवन-काल से है, इसमें भी विशेषतः मुगल-काल से। श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' तथा श्री गोविंदवल्लभ पंत के उक्त नाटक इसी वर्ग के अंतर्गत हैं। भारतेंदु तथा द्विवेदी युगों के ऐतिहासिक नाटकों की वस्तु के रूप भी प्रायः ऐसे ही हैं।

मीमांसा करने पर विदित होगा कि श्री 'प्रसाद' के ऐतिहासिक नाटकों तथा इन नाटककारों के ऐतिहासिक नाटकों में अंतर है। एक अंतर तो यह है कि श्री 'प्रसाद' के नाटकों का संबंध भारत के अतीत वा प्राचीन इतिहास से है और उस काल से वस्तु ग्रहण कर उन्होंने अनेक नाटक लिखे। इन नाटककारों में से केवल दो ही के नाटकों का संबंध प्राचीन इतिहास से है और इनकी ऐसी रचनाएँ भी दो-एक ही हैं, अर्थात् श्री गोविंद-दास का 'हर्ष' और श्री उदयशंकर भट्ट के 'दाहर वा सिंधपतन' तथा 'विक्रमादित्य' का ही संबंध प्राचीन इतिहास से है। दूसरा अंतर यह है कि श्री 'प्रसाद' ने ऐसे नाटकों की रचना के लिए प्राचीन इतिहास का अध्ययन-मनन मौलिक ढंग से किया था। वे इतिहास और संस्कृति के भी पंडित थे, अतः ऐसे नाटकों में इनको अवस्थिति स्वाभाविक रूप से हो गई है। उनकी रचना-शैली भी मौलिक थी, उसमें भी अपनापन था। इन कारणों से उनके ऐतिहासिक नाटकों का रूप मौलिक और

विशिष्ट दृष्टिगत होता है। श्री 'प्रसाद' के अतिरिक्त उपर्युक्त नाटककारों में से कोई इतिहास और संस्कृति का प्रौढ़ पंडित नहीं जान पड़ता। इनकी रचना-शैली में भी मौलिकता का सन्निवेश कम मिलता है। फिर भी इन नाटककारों का अपना-अपना कुछ न कुछ विशिष्ट रूप है। इन सभी नाटककारो के ऐतिहासिक नाटकों में सारल्य का सन्निवेश मिलता है। ऐसी अवस्था मे जो सामाजिक वा पाठक श्री 'प्रसाद' के कुछ क्लिष्ट नाटको में अधिक रस नहीं पाते वे इनसे भली भाँति अनुरंजित होते हैं।

श्री गोविंददास के 'हर्ष' और श्री उदयशंकर भट्ट के 'दाहर वा सिंधपतन' तथा 'विक्रमादित्य' में प्रधान रस वीर ही है। 'हर्ष' में संघर्ष की स्थापना अच्छी है—विशेषतः अंत में, जब शशांक और आदित्यसेन हर्ष की हत्या का षड्यंत्र रचते हैं परंतु वे माधवगुप्त और भंडि द्वारा कैद कर लिए जाते हैं। आदित्यसेन माधवगुप्त का पुत्र था, जो हर्षवर्द्धन का साम्राज्य नष्ट कर गुप्त-साम्राज्य की स्थापना करना चाहता था। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए वह अपने पिता से द्रोह कर शशांक से मैत्री स्थापित करता है। पुलकेशिन द्वारा हर्ष के पराजित होने पर शशांक भी उसे निर्बल समझ स्वतंत्र होना चाहता है। परंतु न आदित्यसेन ही सफल हुआ और न शशांक ही। सुएनच्वांग का भारत आगमन तथा प्रयाग के यज्ञ का वृत्त भी नाटक में है।

'दाहर या सिंधपतन' का वृत्त है बगदाद के खलीफा द्वारा ईसा की आठवीं शती मे सिंध पर आक्रमण और उसे हस्तगत करना।

श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी' के 'शिव-साधना' तथा 'रक्षाबंधन' में से प्रथम का संबंध शिवाजी के जीवन से है। द्वितीय का वृत्त भी बहुत प्रसिद्ध है। मेवाड़ की महारानी कर्मवती ने हुमायूँ को भाई मानकर उसके यहाँ राखी

भेजी और उसने उसके राज्य की रक्षा गुजरात के बादशाह बहादुरशाह से की। श्री गोविंदवल्लभ पंत के 'राजमुकुट' में मेवाड़ की पन्ना धाय द्वारा अपने एक मात्र पुत्र की बलि देकर राणा उदयसिंह की बनवीर से रक्षा का वृत्त है। इन नाटकों में भी वीर रस का प्राधान्य स्वीकार करना चाहिए।

७

पौराणिक और सामाजिक नाटक

–१–

भारतेंदु और द्विवेदी युगों की भाँति इस युग में भी पौराणिक नाटक लिखे गए। भारतेंदु-युगीन पौराणिक नाटकों की मीमांसा करते हुए यह देखा गया है कि इनमें पुराणों की प्रचलित कथाओं का ग्रहण किया गया है; जैसे राम और कृष्ण की कथाएँ। द्विवेदी-युगीन पौराणिक नाटकों पर विचार करते हुए कहा गया है कि इनमें पुराण की प्रचलित कथा का ग्रहण कम है। इस युग के ऐसे नाटकों की वस्तु के लिए पुराण, महाभारत आदि से समाजोपयोगी वृत्त ग्रहण किये गए। छायावाद-रहस्य-वाद-युग के नाटकों की वस्तु भारतेंदु-युगीन पौराणिक नाटकों की-सी भी है और द्विवेदी-युगीन नाटकों की-सी भी। प्रथम प्रकार में श्री माखन-लाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन युद्ध' तथा श्री गोविंददास का 'कर्तव्य' आता है और द्वितीय प्रकार में श्री गोविंदवल्लभ पंत का 'वरमाला' तथा श्री उदयशंकर भट्ट का 'सगर-विजय'।

इस युग के नाटककारों में श्री जगन्नाथप्रसाद 'मिलिंद' की भाँति श्री माखनलाल चतुर्वेदी का नाम भी ले लिया जाता है। श्री गं.विंद-दास के 'कर्तव्य' में राम और कृष्ण के जीवन की समस्त मार्मिक घट-नाओं का चयन है। श्री गोविंदवल्लभ पंत की 'वरमाला' की वस्तु का आधार 'मार्कंडेय पुराण' है। 'सगर-विजय' में अयोध्या के राजा बाहु

का दुर्दम से परास्त हो वन में भटकना और उसकी मृत्यु, बाहु के पुत्र समर का राज्य की पुनः प्राप्ति का लक्ष्य बनाना और विमाता से संघर्ष करते हुए लक्ष्य-प्राप्ति की कथा है। सगर की सफलता में वसिष्ठ का ब्रह्मतेज विशेष सहायक होता है।

छायावाद-रहस्यवाद-युग-जैसे स्वच्छंद और बुद्धिवादी युग में नाटक की वस्तु के लिए पौराणिक आख्यानों का ग्रहण कुछ विचित्र-सा लगता है। परंतु जैसे द्विवेदी-युग में ऐसे आख्यानों को लेकर उन्हें समाज के उत्थान के लिए प्रेरक बनाना था उसी प्रकार का लक्ष्य इस युग के इस श्रेणी के नाटकों का भी समझना चाहिए। इन पौराणिक नाटकों को सामाजिक नाटकों का-सा ही प्रेरक समझना चाहिए। श्री गोविंददास के इस श्रेणी के नाटकों का लक्ष्य यही है। श्री उदयशंकर भट्ट के पौराणिक नाटकों का लक्ष्य कुछ दूसरा है। इनके इस प्रकार के नाटकों का प्रधान लक्ष्य मानसिक अथवा मनोवैज्ञानिक ढंग का संघर्ष दिखाना होता है। इनकी दृष्टि मनोविज्ञान पर अधिक रहती है।

इन पौराणिक नाटकों में वीर, शृङ्गार और करुण रसों का समावेश है।

—२—

छायावाद-रहस्यवाद-युग में सामाजिक नाटकों का भी निर्माण हुआ। इस युग के सामाजिक नाटकों में कथा-साहित्य के यथार्थ और आदर्श का-सा ही लक्ष्य निहित मिलता है; परंतु कथा के क्षेत्र में जैसे सफल कलाकार प्रेमचंद दिखाई पड़े वैसा सफल रचनाकार नाटक के क्षेत्र में कोई नहीं दृष्टिगत होता। इस युग में एकाध सामाजिक नाटक तो ऐसा दिखाई पड़ता है जिसमें साहित्यिकता का अभाव है। जैसे, पांडेय श्री बेचनशर्मा 'उग्र' का 'चुंबन', जिसमें अनर्गलता का साम्राज्य है। श्री गोविंदवल्लभ पंत की 'अंगूर की बेटी' में शराब के दुष्परिणाम के चित्र है।

श्री गोविंददास के 'प्रकाश' में घटनाओं का जंगल है। इसमें भारतीय प्राचीन तथा नवीन समाज के भी चित्र हैं। इसमें राजनीतिक प्रसंग भी आए हैं। आप का 'पाकिस्तान' नामक नाटक भी प्रकाशित हुआ है। श्री उदयशंकर भट्ट ने 'कमला' 'अंतहीन अंत' तथा और भी कुछ सामाजिक नाटक लिखे हैं। श्री उदयशंकर भट्ट कवि भी हैं, मगर नाटक-रचना की ओर ही आपकी अभिरुचि अधिक है। नाटक के क्षेत्र में आपका महत्त्व ऊँचे नाटककारों का-सा है।

ऊपर इसका निर्देश किया गया है कि इस युग में कथा-साहित्य की भाँति नाट्य-साहित्य में भी भारतीय जीवन के यथार्थ और आदर्श का लक्ष्य मिलता है। इन सामाजिक नाटकों में से कुछ में उच्च और निम्न वर्ग का संघर्ष भी यत्र-तत्र दृष्टिगत होता है।

८

अध्यवसित रूपकीय नाटक

—१—

छायावाद-रहस्यवाद-युग में दो-चार ऐसे नाटक भी लिखे गए जिनके विषय की अभिव्यक्ति अध्यवसित रूपक (एलेगरी) के रूप में संमुख आई, जिनमें श्री जयशंकर 'प्रसाद' की 'कामना' और श्री सुमित्रानंदन पंत की 'ज्योत्स्ना' अत्यधिक प्रसिद्ध है। अगरेजी-साहित्य में ऐसे नाटको को 'एलेगारिकल ड्रामा' के नाम से अभिहित करते हैं। अँगरेजी के 'एलेगरी' (Allegory) शब्द का मूल है ग्रीक भाषा का 'एलेगोरिया' (Allegoria) शब्द, जिसकी अभिधा है 'अन्य कथन' अथवा 'दूसरी बात का कहना'; अर्थात् किसी वस्तु, व्यक्ति वा घटना के माध्यम से व्यंग्यात्मक रूप मे दूसरी वस्तु, व्यक्ति वा घटना का वर्णन, जिसमें किसी न किसी प्रकार का साम्य हो। ग्रीक के 'एलेगोरिया' का अर्थ यदि इस शब्द का खंड कर लगाया जाय तो इसका तात्पर्य ऐसा ही प्रतीत होगा। 'एलेगोरिया' शब्द के दो खंड हैं, एक 'एलोस' (Allos) और दूसरा 'एगोरिया' (Agoria)। प्रथम खंड का तात्पर्य है 'दूसरा' (Other) और द्वितीय का 'कथन वा कहना' (Speaking)।

जिन नाटकों में वस्तुओं, व्यक्तियों वा घटनाओं की अभिव्यक्ति अध्यवसित रूपक के रूप में हुई है उनमें वस्तुओं, व्यक्तियों वा घटनाओं का कार्य दोहरा हो गया है, उनमें प्रस्तुत वस्तुएँ, व्यक्ति वा घटनाएँ

व्यंग्यात्मक रूप से अप्रस्तुत वस्तुओं, व्यक्तियों और घटनाओं का प्रतिनिधित्व और अभिव्यक्ति करती है। श्री जयशंकर 'प्रसाद' की 'कामना' में 'संतोष', 'विनोद', 'कामना', 'लीला' आदि व्यक्ति अपने क्रिया-कलाप द्वारा संतोष, विनोद, कामना, लीला आदि भावों की व्यंजना करते देखे जाते हैं। इसी प्रकार श्री सुमित्रानंदन पंत की 'ज्योत्स्ना' के पात्र भी प्रातिनिधिक अभिव्यक्ति करते हैं। जैसे, उसमें 'कल्पना' और 'स्वप्न' वे ही कार्य करते हैं जो मनोवैज्ञानिक रूप से कल्पना और स्वप्न के कार्य हैं। इस प्रकार विदित होता है कि ऐसे नाटकों में प्रस्तुत द्वारा अप्रस्तुत के प्रतिनिधित्व और अभिव्यक्ति का महत्त्व है। अँगरेजी में आचाररूपकों (मोरेलिटी प्लेज) का विधान भी इसी रूप में मिलता है। संस्कृत का 'प्रबोध चंद्रोदय' नाटक भी इसी श्रेणी का है, जिससे अनुवाद की चर्चा भारतेंदु-युगीन नाटकों पर विचार करते हुए की जा चुकी है।

यहाँ अध्यवसित रूपक (एलेगरी) और प्रतीक (सिम्बल) में भ्रम न होना चाहिए, क्योंकि रूप, गुण, क्रिया, स्वभाव आदि का साम्य इन दोनों में मिलता है, और इन दोनों के प्रयोग और निर्णय में प्रायः भ्रम होता देखा जाता है। इसमें तो संदेह नहीं कि अध्यवसित रूपक और प्रतीक दोनों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत में रूप, गुण, क्रिया, स्वभाव आदि में समता होती है; परंतु प्रतीक में यह समता परंपरित और प्रसिद्ध होती है; जैसे, कवि-संप्रदाय में यह तथ्य परंपरित और प्रसिद्ध है कि चातक का गुण, उसकी क्रिया और उसका स्वभाव सच्चे प्रेमी की भाँति है, अतः वह सच्चे प्रेमी का प्रतीक है। अध्यवसित रूपक में रूप, गुण, क्रिया, स्वभाव आदि की समता में परंपरा और प्रसिद्धि का बंधन नहीं रहता, इसमें इनके साम्य की अभिव्यक्ति तथा इनके

प्रतिनिधित्व का स्पष्ट ज्ञान ही अलम् है। 'कामना', 'ज्योत्स्ना,' 'पद्मावत', 'कामायनी' आदि में इनकी स्पष्ट प्रतीति होती है।

—२—

'कामना' में जिस वस्तु की अभिव्यक्ति और उसका प्रतिनिधित्व है वह बहुत ही स्पष्ट है। फूलों के द्वीप में भोली-भाली तारा की संतानों में विकास द्वारा स्वर्ण और मदिरा का प्रचार एवं इसके द्वारा उनके जीवन में यांत्रिकता, छल, प्रपंच, विलास, उच्छृंखलता आदि का सन्निवेश कर उनकी सुख-शांति को भी पीड़ा और हा-हाकार में परिणत कर देना स्पष्टतः आधुनिक सभ्यता का भोले-भाले सात्विक देश पर सांस्कृतिक आक्रमण को अभिव्यक्त करता है। इसमें संदेह नहीं कि स्वर्ण और मदिरा आधुनिक सभ्यता की अभिव्यक्ति तथा उसका प्रतिनिधित्व करती है। स्वर्ण को अर्थ समझ लें और मदिरा को विलास और उच्छृंखलता, जो आधुनिक सभ्यता के विशिष्ट लक्षण हैं। यह भी स्पष्ट है कि यह आधुनिक सभ्यता पश्चिमी है, जिसमें ईसाई मत का धार्मिक और सांस्कृतिक पुट चटकीला है और जो पुट मध्यकालीन यूरोप के विचार-पट पर भली-भाँति उभरा मिलता है, जब राजा ईश्वर का प्रतिनिधि स्वीकृत था। 'कामना' में विलास कामना को भी ईश्वर का प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार करता देखा जाता है। ('कामना', पृ० ५५, द्वितीय संस्करण)

यह भी स्पष्ट है कि फूलो के द्वीप द्वारा पूरब विशेषतः भारत का प्रतिनिधित्व तथा उसकी अभिव्यक्ति होती है, जहाँ सोने की बखेर (अर्थात् अर्थ के प्रति आकर्षण) और मदिरा का दौर (अर्थात् विलास और उच्छृङ्खलता का प्राधान्य) चलाया जाता है। परिणामतः विवेक की यह बात सत्य ही जान पड़ती है कि 'सोने का ढेर छल और प्रवंचना सेएकत्रित करके थोड़े से ऐश्वर्यशाली मनुष्य द्वीप भर को दास बनाए

हुए हैं ।' (वही, पृष्ठ ४६) विवेक की यह बात भी ठीक ही है कि 'मदिरा और स्वर्ण के द्वारा हम लोगों में नवीन अपराधों की सृष्टि हुई, और हुई एक महान् माया-स्तूप की रचना । हमारे अपराधों ने राजतंत्र की अवतारणा की पिता की सदिच्छा, माता का स्नेह, शील का अनुरोध हम लोगों ने नहीं माना । तब अवश्य दंड के सामने सिर झुकाना पड़ेगा ।' (वही, पृष्ठ १०६) विवेक ने इस प्रकार सभ्य होने की अपेक्षा असभ्यावस्था को अच्छा कहा है । (वही, पृष्ठ ७०) 'कामना' में ऐसे अनेक स्थल हैं जिनके द्वारा पश्चिमी सभ्यता की दुष्प्रवृत्तियाँ स्पष्टतः लक्षित होती हैं ।

यह विदित है कि श्री 'प्रसाद' ने अपने नाटकों में राष्ट्रीय चेतना स्थापित की है । 'कामना' में हमें यही तथ्य मिलता है । उन्होंने अध्यवसित रूपक के रूप में पश्चिमी सभ्यता का पूरब वा भारत पर आक्रमण दिखा कर, उसके दुष्परिणाम व्यक्त कर उससे बचने की प्रेरणा की है, उससे मुक्त होनी की वृत्ति जगाई है । यह कार्य भी राष्ट्रीयता का ही द्योतक है ।

भावात्मक दृष्टि से भी 'कामना' में अध्यवसित रूपक की स्थापना हुई है । कामना (इच्छा) का संपर्क जब स्वर्ण और मदिरा अर्थात् विलास से होता है तब शांतिदेव की हत्या होती है, अनेक प्रकार की अवस्था उत्पन्न होती है । कामना जब संतोष वृत्ति धारण करती है तब सुख, शांति और व्यवस्था की स्थापना होती है । विलास के त्याग तथा संतोष के ग्रहण की ओर कामना को विवेक प्रवृत्त करता है । विवेचना द्वारा इसी प्रकार पूरा रूपक स्पष्ट होता है । इस प्रकार संपूर्ण अध्यवसित रूपक के बाँधने में श्री 'प्रसाद' ने कला भी खर्च की है, इसमें संदेह नहीं ।

—३—

'ज्योत्स्ना' की वर्णिका भी वैसी ही है जैसी 'कामना' की । दोनों का लक्ष्य आध्यात्मिक और सांस्कृतिक है । 'कामना' में पश्चिमी सभ्यता

स्वरूप और उसका परिणाम संमुख आता है और इन्हें स्पष्ट करने के लिए भारतवर्ष का प्रतिनिधित्व कर एक देश की कल्पना की गई है। 'ज्योत्स्ना' में आधुनिक सभ्यता और संस्कृति के कारण आधुनिक समाज और जीवन में जो विषमता और अव्यवस्था आ गई है उसे समस्त संसार को दृष्टि-पथ में रखकर संमुख लाया गया है तथा इस विषमता और अव्यवस्था को दूर कर समाज और जीवन में ऐसी सभ्यता और संस्कृति के सन्निवेश की कल्पना की गई है जिसमें 'मानव-प्रेम के नवीन प्रकाश मे राष्ट्रीयता, अंतरराष्ट्रीयता, जाति और वर्ण के भूत-प्रेत सदैव के लिए तिरोहित हो गए हैं।........देश-जाति के बंधनों से मुक्त मनुष्य केवल मनुष्य है। स्त्री-पुरुष का संबंध भी........पाँवों की बेड़ी या जीवन का बंधन नहीं रहा। वह एक स्वाभाविक आत्मसमर्पण और जीवन की मुक्ति बन गया है। निरंतर साहचर्य, परस्पर सद्भाव एवं सह शिक्षा के कारण आधुनिक युवक-युवती का प्रेम देह की दुर्बलता न रह कर हृदय का बल एवं मन का संयम बन गया।' ('ज्योत्स्ना' पृ० ७३, द्वितीय संस्करण) सुरभि द्वारा इसे '......मनुष्य-जाति की सभ्यता में नवीन स्वर्ण-युग का समारंभ' (वही, पृ० ७०) कहलाया गया है। ज्योत्स्ना की कार्य-सिद्धि मे सहायक स्वप्न और कल्पना से उसने (ज्योत्स्ने) यह निवेदन किया कि मानव-जाति को 'जड़ता से चैतन्य की ओर, शरीर से आत्मा की ओर, रूप से भाव की ओर अग्रसर करता है।' (वही पृष्ठ ५८) ज्योत्स्ना कहती है कि 'मनुष्य को........अपूर्ण एकांगी बुद्धिवाद से ऊपर उठना पड़ेगा।' (वही, पृ० ५१) इस बुद्धिवाद का प्रतिनिधित्व झींगुर करता है। यह साम्राज्यवाद और नृशसता की भी अभिव्यक्ति करता है। संक्षेप में सच्चे समाजवादियों की भाँति कवि ने भी इस नाटक में 'संसार में स्वर्ग' उतारने को लक्ष्य की अभिव्यक्ति की है। (वही, पृ० १५) कवि के मन में संसार को स्वर्ग बनाने की जो कल्पना उठती है

उसी की अभिव्यक्ति उसने 'ज्योत्स्ना' के रूपक में निहित की है। इसमें जिस काल्पनिक समाज—यूटोपिया—के चित्र कवि ने खींचे हैं वे समाजवादियो के भविष्य के समाजवादी समाज और जीवन के समान हैं, जिसमें जीवन और समाज के सभी क्षेत्रों में जाति, वर्ण, देश आदि में कोई भेद-भाव न होगा, सभी मनुष्य मनुष्य होगे, बस। परंतु इस प्रकार के जीवन और समाज की स्थापना भविष्य में कब और कैसे होगी, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। यह आदर्श अच्छा है, इसमें संदेह नहीं। 'ज्योत्स्ना' एक कल्पना ही है।

इससे यह भी स्पष्ट है कि 'कामना' की अपेक्षा 'ज्योत्स्ना' का दृष्टि-पथ विस्तृत है। प्रथम में विस्तार-सीमा छोटी है—केवल पूरब और पश्चिम, परंतु द्वितीय की विस्तार-सीमा में सारा संसार समा जाता है।

—४—

आधुनिक समाज और जीवन की विषमता से दुःखी होकर उक्त प्रकार के नवीन समाज और जीवन के निर्माण का लक्ष्य लेकर ज्योत्स्ना स्वर्गलोक से मर्त्यलोक में आती है। स्वप्न और कल्पना तथा पवन और सुरभि उसकी लक्ष्य प्राप्ति के प्रधान सहायक हैं। रात्रि के द्वितीय प्रहर में ज्योत्स्ना के इस लक्ष्य की स्थापना स्वप्न और कल्पना सुरभि और पवन की सहायता से मानव-मानस में लहरा आते हैं। कवि ने नवीन जीवन और समाज के रूप के दर्शन इसके पश्चात् कराए हैं। तृतीय प्रहर में प्रलय का रूप आता है। इसके बाद अरुणोदय में नवीन जीवन और समाज का रूप प्रदर्शित है।

विचार करने पर ज्योत्स्ना नवीन जीवन और समाज के निर्माण की अग्रदूतिका वा देवदूतिका की अभिव्यक्ति करती दिखाई पड़ेगी। ज्योत्स्ना के आदर्श को कार्यान्वित करने में स्वप्न और कल्पना तथा पवन और सुरभि सहायक हैं। 'ज्योत्स्ना' का अध्यवसित रूपक इन्हीं के द्वारा पूर्ण होता है।

'कामना' में अध्यवसित रूपक की स्थापना मानसिक भाव करते हैं और 'ज्योत्स्ना' में यह प्रकृति के अवयवों द्वारा संपन्न होता है, यद्यपि मन के रूपों की सहायता भी इस कार्य में ली जाती है। जैसे, स्वप्न और कल्पना की, जिन्हें कवि ने साक्षात् अपने मूल रूप में उपस्थित हुआ दिखाया है।

—५—

'ज्योत्स्ना' ऐसा नाटक है जिसमें काव्यत्व का प्राधान्य है। 'कामना' में इसकी कमी मिलेगी। 'ज्योत्स्ना' में यथाप्रसंग विचारात्मकता भी है, परंतु कम। काव्यात्मक परिस्थिति में ही इसका निर्माण हुआ है। इसके रंग-निर्देश तथा अनेक गीतों द्वारा जिसकी स्थापना में विशेष सहायता मिली है। रंगमंच पर 'ज्योत्स्ना' का अभिनय तो असंभव ही लगता है—यद्यपि नाटककार ने पात्र-पात्रियों के रूप, वय तक का निर्देश किया है; परंतु साथ ही इनके जिन काल्पनिक वस्त्राभरणों आदि का निर्देश किया है वे असंभव लगते हैं। हाँ इसका अभिनय सिनेमा के रूप में हो सकता है। इसे पठ्य नाटक ही समझना चाहिए। 'कामना' की अभिनेयता में संदेह नहीं, इसका अभिनय हो भी चुका है।

रचना-कला की दृष्टि से 'ज्योत्स्ना' में चुस्ती नहीं दिखाई पड़ती। जिस वस्तु को लेकर इसका निर्माण आरंभ हुआ है उसकी पूर्ति थोड़े में ही हो जाती है और यदि इसमें लक्ष्य-प्राप्ति के पश्चात् व्यर्थ विस्तार न किया जाता, तो चुस्ती की निहिति हो जाती। अंतिम अंक में अनेक गीत, अनेक फूलों के नाम, रूप, कार्य आदि फालतू से लगते हैं। अन्यत्र भी गीतों का आधिक्य इसकी चुस्ती को मारता है। ऐसा प्रतीत होता है कि नाटक में प्राकृतिक और काव्यात्मक वातावरण की स्थापना करने पर विशेष दृष्टि होने के कारण इसकी चुस्ती मारी गई। इसमें पाँच अंक हैं, 'कामना' में तीन ही।

६

गीति-नाट्य

—१—

छायावाद-रहस्यवाद-युग में दो-चार गीति-नाट्य भी लिखे गये। गीति-नाट्य की विशेषता उसका काव्यत्व ही है। काव्यत्व से मेरा तात्पर्य कला पक्ष से नहीं, प्रत्युत भावमयता और रसात्मकता से है। गद्य के माध्यम से लिखे गये नाटकों मे काव्यत्व की कमी रह सकती, परन्तु गीति-नाट्य में काव्यत्व की निहिति अत्यावश्यक है। भारतेंदु-युग के पूर्व के युग मे मौलिक और संस्कृत से अनूदित भी पद्यमय नाटकों की चर्चा की जा चुकी है। यह भी कहा जा चुका है कि उस युग में कुछ ऐसे नाटको की भी रचना हुई जिसमें रंग-निर्देश भी पद्यमय ही है। छायावाद-रहस्यवाद-युग में कथोपकथन तो पद्य में रखा गया, परन्तु रंग-निर्देश नही। स्वाभाविकता की दृष्टि से यह अच्छा ही हुआ। यह तो कहने की आवश्यकता नहीं कि गीति-नाट्य भी नाटक ही है, अतः उसमें नाटक के सभी तत्त्व–कार्य की अवस्थाएँ, संघर्ष, व्यक्ति-वैचित्र्य आदि रहने आवश्यक हैं। गीति-नाट्य को पठ्य नाटक ही समझना चाहिये, क्योंकि पद्य-बद्ध कथोपकथन रंगमंच पर अस्वाभाविक प्रतीत होगा। गद्यमय नाटकों का थोड़ा पद्यमय कथोपकथन ही अप्राकृतिक जान पड़ता है, तब सारे नाटक का अभिनय पद्य मे हो, यह न स्वाभाविक है और न सुसाध्य ही।

—२—

इस युग में नाटक के क्षेत्र में श्री जयशंकर 'प्रसाद' अग्रणी रहे।

नाटक के सभी प्रकारों की रचना उन्होंने की। उनके अध्यवसित रूपकीय नाटक (एलेगारिकल ड्रामा) की मीमांसा की जा चुकी है। अपने युग का इस ढंग का यह प्रथम नाटक था। इस युग में गीति-नाट्य की रचना उन्होने ही सर्वप्रथम की, जिसका नाम 'करुणालय' है। श्री 'प्रसाद' के पश्चात् इस क्षेत्र मे विशेष रूप से कार्य करने वालों में से श्री उदयशंकर भट्ट प्रमुख है। उन्होने 'विश्वामित्र, 'मत्स्यगंधा', 'राधा' आदि गीति-नाट्य लिखे हैं। श्री भगवतीचरण वर्मा ने 'तारा' नामक एकांकी गीति-नाट्य लिखा है। इन गीति-नाट्यों को देखने से यह स्पष्ट है कि 'करुणालय' के अतिरिक्त सभी की वस्तु पौराणिक है। 'करुणालय' की वस्तु का संबन्ध वैदिक काल से है।

'करुणालय' को गीति-नाट्य की रचना का प्रयत्न मात्र समझना चाहिये। इसमें गीति-नाट्य की रचना का लक्ष्य उतना अधिक नहीं लक्षित होता जितना अधिक तुकांतविहीन मात्रिक छंद की रचना का लक्ष्य। इसकी 'सूचना' से यह बात स्पष्ट हो जाती है, जो 'इंदु' (कला ४, खंड १, किरण २, माघ १६६६) में प्रकाशित हुई थी—"यह दृश्य काव्य गीति नाट्य के ढंग पर लिखा गया है। तुकांतविहीन मात्रिक छंद में वाक्यानुसार विराम-चिन्ह दिया गया है। यद्यपि हिंदी में इस ढंग की कविता का प्रचार नहीं है, तथापि अन्य भाषाओं में (जैसे संस्कृत में कुलक, अँगरेजी में ब्लैकवर्स, बंगला मे अमित्राक्षर (छंद आदि) इसका उपयुक्त प्रचार है। हिंदी में भी इस कविता का प्रचार कैसा लाभदायक होगा, इसी विचार के लिये आज यह काव्य पाठको के सामने उपस्थित किया गया है।" यहाँ यह भी स्मरण रखना है कि हिदी में सभी गीति-नाट्य तुकांतविहीन मात्रिक छंद में ही लिखे गये हैं।

राजा हरिश्चन्द्र ने अपने पुत्र रोहित के वयस्क होने पर देवों के प्रीत्यर्थ उसकी (पुत्र की) बलि करने का बचन दिया था। राजा ने

ऐसा किया नहीं, अतः नौका-विहार करते समय जल में उनकी नौका स्तब्ध हो गई और आकाशवाणी द्वारा राजा को अपने वचन का स्मरण दिलाया गया। राजा ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने का वचन दिया और नौका गतिशील हुई। रोहित को यह कथा विदित हुई और वह अपने बदले में बलि होने के लिये शुनः शेफ को सौ गायों द्वारा खरीद लाया। बलिदान का उपक्रम हुआ तथा उसी अवसर पर विश्वामित्र आये और सबको फटकारा। उन्होंने कहा कि राजा के सत्य की परीक्षा के लिये देवों ने ऐसा किया है, वे बलि न लेते। विश्वामित्र की यह वाणी 'करुणालय' का मूलमंत्र ज्ञात होता है—

अपनी आवश्यकता का अनुचर बन गया
रे मनुष्य ! तू कितने नीचे गिर गया
आज प्रलोभन-मय तुझसे करवा रहे
कैसे आसुर कर्म ! अरे तू क्षुद्र है—
क्या इतना ? तुझ पर सब शासन कर सके
और धैर्य की छाप लगा कर—मूढ़ तू ?
फँसा आसुरी माया में······
(पृ० २०, २१, द्वितीय संस्करण)

गीति-नाट्य मे काव्यत्व के साथ ही मानसिक संघर्ष का प्राधान्य होना चाहिए, जो इसमें कम ही मिलता है। प्राकृतिक चित्र इसमें यथा स्थल मार्मिक है।

—३—

श्री उदयशंकर भट्ट ने गीति-नाट्य के क्षेत्र में प्रशंसनीय और प्रभूत कार्य किया है और वे अब भी कर रहे हैं। गीति-नाट्य में जो विशेषताएँ होनी चाहिए वे सभी इनके गीति-नाट्यों में विद्यमान हैं। काव्यत्व अथवा भावात्मकता तथा मानसिक संघर्ष इन की रचनाओं में हैं। पौराणिक कथाओं को लेकर भी इन्होंने उनमें स्थित शाश्वत तत्त्व पर

दृष्टि रखी है अर्थात् मानसिक अथवा भावों के संघर्ष पर। पौराणिक कथाओं द्वारा भी उन्होंने वे ही तथ्य संमुख रखे हैं जो पुराण-युगीन ही नहीं हैं, वरन् आज भी विद्यमान है। 'विश्वामित्र' के सभी पात्रों को उन्होंने यथोचित नर, नारी तथा उनके मानसिक भावों के प्रतिनिधि के रूप में दिखाया है। इसकी भूमिका—'अपने पाठकों से'—में कहते हैं—"......विश्वामित्र पुरुष है, मेनका नारी, उर्वशी इन दोनों का संघर्ष है। विश्वामित्र अहंकार है, बल है, शक्ति का प्रतीक है, अभिमान है और है नर। मेनका प्रेम है, कोमलता है, भावपेशलता है, नम्रता है, स्फूर्ति है, जीवन है और है नारी। बस, यही सब यह भावनाट्य कथा समझनी चाहिए।" (पृष्ठ च)

'मत्स्यगंधा' में मत्स्यगंधा और पराशर का प्रेम, मत्स्यगंधा को चिर-यौवना होने का वरदान और अंत में इसके विधवा होने की कथा का वर्णन है। चिरयौवना विधवा के जीवन तथा मानसिक संघर्ष का रूप सहज ही अनुभवगम्य किया जा सकता है।

'राधा' मे प्रवृत्ति-विशेषतः प्रेम की प्रवृत्ति—और निवृत्ति के रूप सम्मुख आए हैं। प्रेम की प्रवृत्ति की प्रतिनिधि राधा हैं और इसकी निवृत्ति के प्रतिनिधि कृष्ण। इस रचना में कृष्ण वीतराग के रूप में प्रतिष्ठित हैं, दूसरी ओर राधा प्रेम की सारी अवस्थाओं को लिए-दिए सामने आती हैं। प्रेम की इन्ही प्रवृत्ति-निवृत्ति का संघर्ष 'राधा' मे है।

श्री उदयशंकर भट्ट अच्छे कवियों में से एक हैं। उनमें कवित्व है। इसी कारण अपने गीति-नाट्यों में वे मानसिक संघर्ष को काव्यात्मक वाणी में प्रदर्शित कर रसानुभूति कराते हैं।

१०

समस्या नाटक

—१—

समस्या नाटकों की थोड़ी चर्चा छायावाद-रहस्यवाद-युगीन नाटकों की पीठिका पर विचार करते हुए की जा चुकी है। उक्त युग के सामाजिक नाटकों की मीमांसा भी हुई है। समस्या नाटक भी सामाजिक नाटक ही हैं। यह स्पष्ट है कि सामाजिक नाटक का क्षेत्र समाज तथा उसके व्यक्ति की जीवनगत घटनाएँ हैं। सामाजिक नाटक की दृष्टि समाज में जो कुछ होता रहता है उस पर रहती है और विशेषतः उन घटनाओं तथा व्यक्तियो पर रहती है जिनके द्वारा समाजगत अधिक से अधिक व्यक्तियो का जीवन प्रभावित होता है—चाहे आनंद से अथवा पीड़ा से। इसी कारण हम देखते हैं कि सामाजिक नाटककार प्रायः वर्तमान समाज और जीवन को लेकर चलता है और इसी कारण सामाजिक नाटक प्रायः यथार्थवादी होता है—सामाजिक कथाओं की भाँति। यदि यह आदर्शवादी होता भी है तो यथार्थ को लेकर ही, इसे छोड़कर नहीं। समाज की वर्तमान घटनाओं और व्यक्तियों को न लेकर जब नाटक अतीत के समाज की घटनाओ और व्यक्तियों को लेकर चलता है, तब वह ऐतिहासिक नाटक की कोटि में आता है। मीमांसा करने पर विदित होगा कि सामाजिक नाटक की दृष्टि समाज की आनंद-विधायिनी घटनाओं और व्यक्तियों पर उतनी अधिक नहीं रहती जितनी

अधिक समाज के लिए पीड़ाविधायिनी घटनाओं तथा व्यक्तियों पर रहती है। समाज के लिए जो तत्त्व हानिकर हैं, उन्हें सामाजिकों के संमुख लाना इस प्रकार के नाटक का विशेष लक्ष्य होता है। भारतेंदु-युग के सामाजिक नाटकों का लक्ष्य ऐसा ही था। किसी न किसी रूप में समस्या नाटक का लक्ष्य भी यही होता है।

सामाजिक और समस्या नाटक की लक्ष्य की एकता होते हुए भी इनकी प्रक्रियाओं में भेद है और यह भेद विषय और शैली दोनो दृष्टियो का है। यह कहा गया है कि सामाजिक नाटक में समाज, जीवन और व्यक्ति का यथार्थ ही संमुख रखा जाता है, इसमें आदर्श भी संमुख लाया जा सकता है। अभिप्राय यह कि सामाजिक नाटक में जैसा समाज है प्रायः वैसा ही अंकित करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। समस्या नाटक में वर्तमान युगीन समाज, जीवन और व्यक्ति की स्पष्ट और उभरी हुई विभिन्न समस्याओ को प्रभावशाली रूप देकर संमुख लाया जाता है। यहाँ 'समस्या' का अर्थ 'प्रश्न' न ग्रहण कर 'संघर्ष' 'कठिनता', 'बाधा' तथा ऐसे ही अन्य रूपों में ग्रहण किया जाय, तो विषय की स्पष्टता मे सरलता हो। सामान्यतः 'समस्या' का अभिप्राय इन्हीं रूपों मे आज चल भी रहा है। समस्या नाटक में समाज, जीवन और व्यक्ति के स्पष्ट और उभरे हुए पक्ष की निहिति के कारण उसकी प्रभावशालिता में वृद्धि तो होती ही है, इसके अतिरिक्त रचना-शैली की व्यंग्यात्मकता के कारण भी उसमें प्रभावशालिता का संनिवेश होता है। सामाजिक नाटक की भाँति समस्या नाटक के विषय में भी यह स्मरण रखना चाहिए कि इसमें भी समाज, जीवन और व्यक्ति की जो बाधाएँ हैं, जो संघर्ष हैं, जो कठिनाईयाँ हैं और उसकी जो त्रुटियाँ भी हैं उनको संमुख रखा जाता है। यह भी स्मरण रखना है कि समस्या नाटक में समाज, जीवन और व्यक्ति की त्रुटियों पर व्यंग्यात्मक शैली

द्वारा जो चोट की जाती है वह निर्ममतापूर्वक ही। समस्या नाटक में यह तत्त्व अनिवार्य और प्रधान होता है। सच्चे समस्या नाटक में यह प्रवृत्ति मिलती भी है, जैसे बर्नार्ड शा के समस्या नाटकों मे। समस्या नाटक की रचना का प्रचलन इब्सन, शा के नाटकों की देखा-देखी छायावाद-रहस्यवाद-युग में हुआ, परंतु, इस ढंग के कुछ छोटे नाटक भारतेंदु-युग में भी लिखे गए, इनमे भी समस्या नाटकगत व्यंग्यात्मकता की प्रवृत्ति अवश्य मिलती है। इनमें भी समाज, जीवन और व्यक्ति की त्रुटियो पर जो चोट हुई है वह निर्ममतापूर्वक ही।

बर्नार्ड शा ने अपने 'प्लेज अनप्लजेंट' (Plays Unpleasant) नानक पुस्तक मे संगृहीत 'मेसर्स वैरेन्स प्रोफेसन' (Mrs. Warren's Profession) नाटक की भूमिका में लिखा है—"···विदित यह होता है कि समस्या नाटक ही सच्चा नाटक है, क्योकि यथार्थ चित्रण मात्र ही नाटक नही है; नाटक मानव की इच्छा तथा उसकी परिस्थिति के बीच के संघर्ष—अर्थात् समस्या—का प्रतीक रूप में प्रस्तुत करना है।"[1] इससे स्पष्ट है कि शा समस्या नाटक में मानव की इच्छा तथा परिस्थिति में संघर्ष पर विशेष ध्यान देते हैं। इसमें संदेह नही कि मानव की इच्छा का यहाँ तात्पर्य उसकी सुख और सुविधा-प्राप्ति की इच्छा से है और इन्हीं के लिए वह अपनी परिस्थिति—विषम परिस्थिति—से संघर्ष करता है, शा की दृष्टि से समस्या नाटक में उस संघर्ष का चित्र होता है। स्मरण यह रखना है कि मानव विषम परिस्थितियों से यह संघर्ष सुख, शांति,

1.···it will be seen that only in the problem play is there any real drama, because drama is no mere setting up of camera to nature : it is the presentation in parable of the conflict between Man's will and his environment : in a word, of problem.

केवल परिचय भी हल की ओर जाने की प्रेरणा देता है। पूर्णतः यथार्थवादी साहित्य—यदि वह सत्साहित्यकार द्वारा प्रस्तुत हो तो—का लक्ष्य भी यही होता है। समाज, जीवन और व्यक्ति की अमुक-अमुक जटिलताएँ अनुत्कर्ष पूर्ण है, यदि सजग श्रोता, पाठक और दर्शक के मन पर यह प्रभाव पड़ जाय तो वह स्वतः उनके हल की ओर मुड़ेगा। इसी मानसिक वृत्ति को पकड़ कर समस्या नाटक में प्रायः जटिलताएँ ही संमुख रखी जाती हैं, उसमें उनका हल प्रस्तुत करने का कोई बंधन नहीं है।

—२—

इसका निर्देश किया जा चुका है कि योरप में शेक्सपीयर तथा इन्हीं की-सी प्रवृत्ति वाले दूसरे नाटककारों के काव्यमय तथा भावुकतापूर्ण नाटकों के विरुद्ध आधुनिक जीवन जैसा है—चाहे वह किसी भी वर्ग का हो—उसे वैसे ही चित्रण करने के पक्षपाती शा जैसे नाटककारों के नाटकों का निर्माण हुआ। ऐसे यथार्थवादी नाटकों में समस्या नाटक भी आता है। हिंदी में भी श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्या नाटकों का निर्माण श्री जयशंकर 'प्रसाद' जैसे नाटककारों की काव्यमय तथा भावुकतापूर्ण रचनाओं के विरुद्ध हुआ। यहाँ निस्संकोच यह कहा जा सकता है कि श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र को इस परिस्थिति में समस्या नाटकों के निर्माण की प्रेरणा इब्सन और शा से अवश्य मिली। वहाँ शेक्सपियर जैसे नाटककारों का प्रभाव था और यहाँ द्विजेंद्रलाल राय और श्री जयशंकर 'प्रसाद' जैसे नाटककारों का। इस प्रकार विदित होता है कि समस्या नाटकों का निर्माण स्वच्छंदवादी प्रवृत्ति से संपन्न नाटकों के विरोध में हुआ। समस्या नाटक के निर्माताओं का विरोध स्वच्छंदवादी वृत्ति संपन्न नाटक के निर्माताओं के विषय और शैली दोनों से था। यह कहा जा चुका है कि समस्या नाटक की वस्तु आधुनिक

समाज, जीवन और व्यक्ति की स्पष्ट और उभरी हुई समस्याएँ होती हैं। स्वच्छंदवादी-वृत्ति-संपन्न नाटकों में विषय की आधुनिकता और उसकी समस्याओं का बंधन नहीं है। स्वच्छंदवादी नाटकों में ऐसे विषय की निहिति भी हो सकती है जिसमें कोरे प्रेम-व्यापार के अतिरिक्त और कुछ न हो, परंतु समस्या नाटकों में समस्याओं की निहित आवश्यक है। सच्चे समस्या नाटकों मे कोरे प्रेम-व्यापार (रोमांस) का निषेध किया गया है। उसमें कोरे प्रेम-व्यापार, निरर्थक भावुकता पर चोट करने की बात स्वीकृत की गई है। 'प्लेज अनप्लेजेंट' (Plays Unpleasent) के आमुख में अपने विषय मे लिखते हुए बर्नार्ड शा ने कहा है कि "निस्संदेह सचाईपूर्वक मानवता को अपनी वस्तु के रूप में ग्रहण करने वाले सभी नाटकों को निरर्थक काल्पनिक उड़ान पर चोट जरूर करनी चाहिए, निरर्थक काल्पनिक उड़ान को आश्रय देना तो प्रेम-व्यापार (रोमांस) का कार्य है।"[1] अभिप्राय यह कि वस्तु के क्षेत्र मे समस्या नाटकों की दृष्टि यथार्थवादी है। रचना शैली के क्षेत्र में भी समस्या नाटकों की दृष्टि यथार्थवादी ही है। इसी कारण सच्चे समस्या नाटको के निर्माताओं ने अतिकाव्यत्व, संगीत आधुनिक, दृष्टि से निरर्थक रंगमंचीय विधान आदि का निषेध किया है।

---

1. No doubt all plays which deal sincerely with humanity must wound the monstrous conceit which it is the businses of romance to flatter.

११

श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र

—१—

छायावाद-रहस्य-युग में जिस समय काव्य के क्षेत्र में जीवन से पलायन की वृत्ति की अभिव्यक्ति का प्राधान्य था उसी समय कथा और नाटक के क्षेत्र में जीवन में प्रवृत्त होने की अभिव्यक्ति की जा रही थी। श्री 'प्रसाद' तक के नाटक जीवन मे पैठने को प्रेरित करते हैं। श्री लक्ष्मी-नारायण मिश्र के नाटकों ने भी इसी प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति की। कथा के क्षेत्र में इस प्रवृत्ति को लेकर चलने वालों में से श्री प्रेमचंद प्रमुख थे। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने नाटकों की भूमिकाओ मे उस युग में प्रचलित पलायनवाद, निरर्थक काल्पनिकता आदि का घोर विरोध किया और इस वृत्ति के अनुरूप ही समस्या नाटक प्रस्तुत किए। उन्होंने लिखा है—"कला के मूल में जब तक जीवन की व्यापक भावना नहीं रहती वह पूरी भी नहीं हो पाती। कला की सफलता जीवन को पकड़ने में—उसमें मिल जाने मे है, उससे विद्रोह करने में नहीं।" (मुक्ति का रहस्य, मै बुद्धिवादी क्यों हूँ, पृ० ८) दूसरे स्थान पर उन्होंने कहा है—"कला का अंत स्वप्न की फुलवारी में नहीं होता—उसका अंत तो होता है जीवन-समुद्र के उस किनारे जहाँ आँधी है और वज्र है—बिजली और उल्कापात है—जहाँ मानव जीवन की विषमताएँ एक के बाद दूसरी भयंकर लहरों के रूप में उठती और बैठती हैं……।" (राक्षस का

मंदिर, मेरा दृष्टिकोण, पृ०१) योरप में भी स्वच्छंदवादी साहित्य के विरुद्ध इब्सन, शा आदि के विचार भी साहित्य तथा जीवन के विषय में ऐसे ही थे। ये लोग भी साहित्य मे कर्म-तत्त्व को लेकर चले।

इससे श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र की छायावाद-रहस्यवाद-युग के काव्य में प्रचलित कायिक तथा मानसिक विलास, काल्पनिक और निरर्थक वैभव आदि के विरोध की धारणा भी प्रकट होती है, जिसका संबंध नारी से था। विरोध की इस धारणा को उन्होंने गाहे-ब-गाहे लिखा और कहा-सुना भी है। उक्त युग में नारी अप्रतिम सौंदर्यमयी के रूप में चित्रित की गई, उसकी प्रतिष्ठा नर के समान ही हुई, रीति-काल की भाँति वह नर की वासनाओं की गुलाम न थी। कवियों ने नारी को प्रधानतः प्रेयसी के रूप में रखा और उसके साथ अपने प्रेम-व्यापार का वर्णन किया, जो वर्णन कुछ लोगों की दृष्टि में असाधु है—उसी भाँति जिस भाँति-रीति काल का उसका प्रेम-व्यापार-वर्णन। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र का विरोध संभवतः नारी के इस रूप के चित्रण से है। यहीं यह तथ्य भी सम्मुख आता है कि उन्होंने भी अपने नाटकों का विषय प्रधान रूप से नारी-समस्या और उसके प्रेम-विवाह आदि की समस्याओं को संमुख रखा। नारी-समस्या के साथ ही प्रसंग-वश उन्होंने आधुनिक समाज, जीवन और व्यक्ति की अन्य उभरी और स्पष्ट समस्याओं को भी सामने लाने का अवसर निकाला है, परंतु अन्य समस्याओं को ही लेकर अलग से नाटक प्रस्तुत नहीं किए है, जिनका प्रस्तुत किया जाना श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र-जैसे नाटक-कार द्वारा अपेक्षित था, क्योंकि आधुनिक समाज, जीवन और व्यक्ति की अन्य समस्याएँ भी है, नारी-समस्या का ही संबंध आधुनिक युग से नहीं है।

नारी के प्रेम, विवाह आदि की जिन समस्याओं को श्री लक्ष्मी-

नारायण मिश्र ने अपने नाटकों में निहित किया है उसे कभी-कभी सेक्स की समस्या से अभिहित किया जाता है। परंतु सेक्स, जिसे फ्रायडवाद ही कहा जायगा, की समस्या वह तब कही जाती जब इस संबंध में किसी वाद के कायल होकर, उसका सैद्धांतिक और व्यावहारिक प्रतिपादन करने के चक्कर मे नाटककार पड़ते, जैसा श्री इलाचन्द्र जोशी अपने उपन्यासों में करते हैं। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटको में नारी के प्रेम, विवाह आदि की समस्याएँ किसी वाद के चक्कर में भ्रमित नहीं दृष्टिगत होतीं; वे उसी रूप मे दिखाई पड़ती हैं जिस रूप में वे आज के समाज और जीवन में प्रचलित हैं, विशेषतः समाज के पढ़े-लिखे मध्यवर्ग के जीवन मे। नारी-समस्या को श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र ने उक्त वर्ग को ही लेकर प्रस्तुत किया है। अपने नाटको में उनकी दृष्टि विशेष रूप से इसी वर्ग के जीवन पर है और अन्य वर्ग के जीवन पर उन्होंने कुछ कहा भी है, तो इस वर्ग के प्रसंग से ही।

यहाँ इसका भी निर्देश कर दूँ कि 'सेक्स' शब्द का प्रयोग आज सामान्यतः उसी अर्थ में चलता है जिस अर्थ में 'कामुकता' शब्द का प्रयोग। विलास, कामुकता आदि का आधिक्य अथवा इनकी अति ही सेक्स के रूप मे आज गृहीत होती है। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों में कामुकता, विलास आदि की अति का ऐसा रूप भी नही दिखाई पड़ता। उनके नाटकों में प्रेम आदि सेक्स की भावना से अभिभूत लक्षित नहीं होते। अपने नाटकों में उन्होंने प्रेम आदि का वैसा ही रूप चित्रित किया है जैसा समाज में प्रचलित है। इसका निर्देश किया गया है कि समस्या नाटक के निर्माता समाज, जीवन और व्यक्ति से संबद्ध यथातथ्य का ग्रहण कर ही रचना में संलग्न हुए हैं। यथार्थ के आधार पर निर्माण करने के कारण ही कहीं-कहीं समाज, जीवन और व्यक्ति के ऐसे चित्र भी प्रस्तुत करने पड़े हैं जो अपने व्यावहारिक रूप में तो असाधु

हैं ही, नाटकों में भी असाधु ही लगते हैं। इस विषय में श्री लक्ष्मी-नारायण मिश्र ने भी वही बात कही है जो यथार्थवादी रचनाकार कहते हैं, अर्थात् ऐसे यथार्थ-चित्रण में दोष रचनाकार का नहीं, समाज का है, क्योंकि रचनाकार का लक्ष्य तो जैसा समाज, जीवन और व्यक्ति है वैसा चित्रण करने का है। 'राक्षस के मंदिर' के विषय में उन्होंने कहा है —"शायद इस नाटक 'राक्षस का मंदिर' में मैंने अपना लैंसेट बेदरदी के साथ इस्तेमाल किया है। मुझे संदेह हो रहा है मेरे थोड़े या अधिक पाठक मुझ पर क्षुब्ध हो उठेंगे। मुमकिन है वे यह भी कहे कि मेरी यह रचना अश्लील या संहारक हो गई। उनका यह सब कहना किसी अंश तक ठीक भी होगा लेकिन इसका उत्तरदायित्व मुझपर नही मुनीश्वर और रामलाल पर है—असगरी और ललिता पर हैं।......यदि मुनीश्वर का जीवन समाज अथवा संसार के बाहर नहीं—तो मेरी कला किसी पहलू से भी दूषित नहीं कही जा सकती।" ('राक्षस का मंदिर', मेरा दृष्टिकोण, पृ० ५, ६) श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के इस कथन को उनके सभी समस्या नाटकों के विषय में समझना चाहिये। इस प्रकार यथार्थ के चित्र खींच कर उन्होंने अश्लीलता प्रचारित करने का काम नहीं किया, प्रत्युत सुधी श्रोता, पाठक और दर्शक को समाज, जीवन और व्यक्ति की इस कुरूपता से बचे रहने को प्रेरित किया है। श्री लक्ष्मी-नारायण मिश्र की इस ईमानदारी पर विश्वास होना चाहिए। कलाकार की इस प्रकार की ईमानदारी की चर्चा उन्होंने प्रसंगवश की भी है। (देखिए, मुक्ति का रहस्य, मै बुद्धिवादी क्यों हूँ, पृ० २०, २१)

आधुनिक युग के अनेक आंदोलनों में से नारी-स्वातंत्र्य का आंदोलन भी प्रमुख है, जिसका आरंभ भारतदु-युग से आरंभ हो गया था और जिसे आगे बढकर सफलता की ओर मोड़ने में भरत के सभी क्षेत्रों के आंदो-लनों ने योग दिया। दयानंद के आर्य-समाजी आदोलन ने नारी-स्वा-

तंत्र्य के आंदोलन को अग्रसर करने में काफी काम किया। आधुनिक काल के राष्ट्रीय आंदोलन ने भी नारी-स्वातंत्र्य की भावना को तीव्र किया और इसे काफी हद तक सफलता का मार्ग दिखाया। हिन्दी-साहित्य में भी नारी-स्वातत्र्य की भावना की धारा प्रवाहित हुई है। नारी-स्वातंत्र्य के आंदोलन के फलस्वरूप हम छायावाद-रहस्यवाद-युग में उसे नर के समकक्ष प्रतिष्ठित पाते हैं। बुद्धिवादी और सुधारवादी दृष्टि के साहित्य-कारों ने नारी को किसी भी प्रकार कम चित्रित नहीं किया। नर के शासन में बहुत दिनों तक नारी के दबी रहने की प्रतिक्रिया के परिणाम-स्वरूप कुछ साहित्यकारों ने नर की अपेक्षा नारी को प्रबल, कर्तव्यपरा-यण, स्वतंत्र आदि रूप में प्रतिष्ठित किया। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्या नाटकों में नारी इसी रूप में दृष्टिगत होती है। उन्होंने नारी का महत्त्व नर की अपेक्षा अधिक स्थापित किया है। नर के वशवर्ती उन्होंने नारी को नहीं रखा। उनके समस्या नाटकों में "चिरंतन नारीत्व ने पुरुष की अहंमन्यता पर विजय प्राप्त की है।" 'राक्षस का मंदिर' में रघुनाथ को असगरी का प्रेम स्वीकार करता देख और इसे नारी-जाति का अपमान समझ ललिता भी उसे (रघुनाथ को) स्वीकार नहीं करती। अन्य नाटकों में भी उन्होंने किसी न किसी रूप में नारी के सम्मान की प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न किया है।

—२—

इसका निर्देश किया जा चुका है कि समस्या नाटकों में समाज, जीवन और व्यक्ति की त्रुटियों पर निर्मम चोट की जाती है और इस कार्य को साधने के लिए व्यंग्यात्मकता का आश्रय लिया जाता है। बर्नार्ड शा ने इस कार्य को इसी रूप में किया है। परंतु जितनी सफलता के साथ यह कार्य बर्नार्ड शा संपन्न कर सके हैं उतनी सफलता के साथ श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र नहीं। यहाँ यह भी समझ रखना है

कि बर्नार्ड शा काफी अधिक मात्रा में व्यक्तिवादी साहित्यकार हैं और वे कभी-कभी ऐसी चीजों को भी अपनी दृष्टि से गलत समझते हैं जो यथार्थ मे सही रहती हैं। ऐसी अवस्था मे कभी-कभी सही चीजों पर भी प्रहार कर दिया करते हैं। अपनी इसी व्यक्तिवादिता के कारण वे अपने समस्या नाटको मे लंबी-लंबी भूमिकाएँ लिखकर अपनी दृष्टि से समस्या का हल प्रस्तुत कर देते हैं, समझते हैं कि यही हल ठीक है और लोग इसी को स्वीकार करे। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र अपने समस्या नाटकों में समाज, जीवन और व्यक्ति की त्रुटियों पर उतनी निर्मम चोट करते नहीं देखे जाते जितनी निर्मम चोट बर्नार्ड शा करते हैं। इसका एक कारण तो यह है कि इनमे व्यंग्यात्मकता की बहुत कमी है, जो बर्नार्ड शा में अधिक मात्रा में है। दूसरा कारण यह है कि यद्यपि श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र अपने को व्यक्तिवाद तथा बुद्धिवाद की उसी वर्णिका में प्रतिष्ठित समझते है जिस वर्णिका में बर्नार्ड शा हैं, परंतु सत्यतः ये दोनो तत्व इनमें अधिक नही हैं। इसी कारण ये बर्नार्ड शा की भाँति कम से कम समस्या-नाटकों की भूमिकाओं में समस्या का कोई मौलिक हल प्रस्तुत करते हुए नहीं देखे जाते। अपने कुछ समस्या-नाटकों मे इन्होने कुछ लंबी भूमिकाएँ अवश्य लिखी है, जिनमे बर्नार्ड शा के व्यक्तिवाद तथा बुद्धिवाद की नकल-सी कुछ खरी बाते अवश्य हैं। एक स्थान पर हमने कहा है कि ये कलाकार को ईमानदार होने की बात का समर्थन करते हैं और अपनी शक्ति भर ये रचनाओं में ईमानदार भी है। परंतु इनके समस्या नाटकों की भूमिकाओं में जो-जो बातें हैं वे सभी मौलिकता के रंग मे पूर्णतः रंगी नही दिखाई पड़तीं। मेरी दृष्टि मे इसका कारण यह है कि श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र ने जिन समस्याओं को अपने नाटको में लिया है उनमे इनकी गहरी पैठ नहीं है, इनमे जगत् और जीवन का वह गहरा अनुभव नही है जो बर्नार्ड शा-जैसे नाटककारों में मिलता है।

बर्नार्ड शा और श्रीलक्ष्मीनारायण मिश्र भी अपने नाटकों में विचार-धारा, शैली आदि की दृष्टि से नवीनता और मौलिकता की इतनी अधिकता निहित मानते हैं कि इनके मन में प्रायः यह बात घूमा करती है कि वर्तमान युग हमारी विचार-धारा और शैली को स्वीकृत करने के लिए अभी उपयुक्त नहीं बना है। इनके मन में प्रायः यह बात घुमड़ा करती है कि वर्तमान युग हमारी बातों को ग्रहण करने के लिए अभी उतना प्रगतिशील नहीं हो पाया है जितनी प्रगतिशील हमारी विचार-धारा और शैली है। इसी कारण ये लोग अकसर यह लिखते और कहते देखे-सुने जाते हैं कि हमारी रचनाओं का मूल्य भविष्य आँकेगा, आज हमारे विचार सबको संगत नहीं प्रतीत होते, मगर भविष्य में लोग इन्हें अवश्य ग्रहण करेंगे। इस प्रकार की बातों के कहने का कारण वर्तमान युग की प्रगतिशीलता में अविश्वास ही है। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र ने इस तरह के विचार अपने नाटकों की भूमिकाओं में अनेक स्थलों पर प्रकट किए हैं। (दे० 'संन्यासी' की भूमिका) ऐसे विचारों के प्रकाश का कारण व्यक्तिवाद ही है, जो अहंवाद का दूसरा रूप है।

—३—

समस्या नाटक की रचना-शैली की नवीनता की कुछ चर्चा यथा-स्थान की जा चुकी है। समस्या नाटककार शेक्सपीयर, श्री द्विजेंद्रलाल राय, श्री प्रसाद आदि की रचना-पद्धति को नाट्य कला की प्राचीन शैली के अंतर्गत मानते हैं। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र लिखते हैं—'राक्षस का मंदिर' और 'संन्यासी' में पुरानी परिपाटी के छोड़ने का प्रयत्न मैंने किया था। पुरानी परिपाटी से मेरा मतलब द्विजेंद्रलाल राय की नाटक परिपाटी से है जिसका प्रभाव हमारे नाटकों पर बहुत बुरा पड़ा है। हमारे जो कुछ इनेगिने नाटक इधर प्रकाशित हुए हैं सबमें दुर्भाग्यवश द्विजेंद्रलाल राय को आदर्श मानकर लेखकों ने कागज रँगा है।" (मुक्ति

का रहस्य, मै बुद्धिवादी क्यों हूँ, पृ० २१)। श्री द्विजेंद्रलाल राय को श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र ने बहुत खरा-खोटा कहा है। इनकी दृष्टि में श्री राय 'अंतःकरण का अंधा साहित्यकार' हैं। श्री प्रसाद जैसे नाटककारों के विषय मे भी इनकी धारणा ऐसी ही समझनी चाहिए। श्री राय के नाटको का हिंदी पर प्रभाव के विषय में इन्होने उल्लिखित उद्धरण में संकेत भी किया है। मगर समस्या नाटककारों द्वारा प्राचीन शैली के नाटक कहे जाने वाले नाटको में जिस काव्यमयता और भावुकता का विरोध किया जाता है वे ऐसे नाटककारो के नाटकों, अर्थात् समस्या नाटकों, में नहीं मिलते, ऐसा नहीं कहा जा सकता। कम से कम श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्या नाटक तो काव्यमयता और भावुकता से सर्वांशतः मुक्त नहीं है और न मुक्त होने की आवश्यकता ही प्रतीत होती है, क्योकि नाटक भी साहित्य का एक अंग है और साहित्य से काव्यत्व और भावुकता हटा देने की बात कोई सुधी स्वीकार नहीं करेगा। यही कारण है कि श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों में इनका संनिवेश है, यद्यपि ये इनके विरोधी हैं। यहाँ इसका स्मरण रखना है कि अति का विरोध अवश्य होता है और समस्या नाटककारो ने अपने पहले के नाटककारों के नाटकों में संभवतः अपनी दृष्टि से काव्यत्व तथा भावुकता का आधिक्य समझ कर इनका विरोध किया था। परंतु साहित्यिक रचनाओं में इनका त्याग संभव नहीं हो पाता।

समस्या नाटककार स्वगत और लंबे कथोपकथन का विरोध करते हैं। रंगमंच पर स्वगत तो अवश्य अस्वाभाविक लगते हैं, मगर जीवन में अपने मन से बात करने वाले नहीं मिलते, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र स्वगत के स्थान पर मूक अभिनय के पक्षपाती हैं, और उनका यह अवश्य ही मान्य सुझाव और व्यवहार्य समझा जाना चाहिए। कहते हैं—'पात्रों की भीतरी भावनाओ और

प्रवृत्तियों को व्यक्त करने में जितना सहायक मूक अभिनय होता है— उतना स्वगत नहीं......दो हिस्सा स्वगत और एक हिस्सा स्वाभाविक कथोपकथन करा देने से नाटक का लिखना तो सरल हो उठता है— लेकिन नाटकत्व बिगड़ जाता है, अभिनय की जरूरत नहीं रहती !' (मुक्ति का रहस्य, मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ, पृ० २६) लंबे संवाद रंगमंच पर अस्वाभाविक लगते हैं, समस्या नाटककारों ने ऐसे संवाद का भी विरोध किया है। परंतु श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों में लंबे संवाद यत्र-तत्र सुनाई पड़ जाते हैं। जैसे 'सिंदूर की होली' में मनोरमा आदि के दो चार संवाद, जो रंग मंच पर भाषण के से प्रतीत होते हैं।

समस्या नाटककार नाटक में लंबे-लंबे गीतों के पक्षपाती नहीं है। चाहे जहाँ, स्थान की उपयुक्तता जाने बिना, गीत का संविधान सचमुच अस्वाभाविक लगता है। ये लोग उपयुक्त प्रसंग में गीत की दो-चार पंक्तियों के विरोधी नहीं हैं, जो जीवन में व्यवहार्य है। गीत के संविधान के विषय में श्री लक्ष्मी नारायण मिश्र कहते हैं—"मेरी राय में नाटक में गीत रखना कोई बहुत जरूरी नही है। कभी कभी तो गीत समस्याओं के प्रदर्शन में बाधक हो उठते हैं।......नाटक में गीत का पक्षपाती मैं वहीं तक हूँ—जहाँ तक इसे जीवन में देख पाता हूँ।" (मुक्ति का रहस्य, मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ, पृष्ठ २५)

कहा जा चुका है कि समस्या नाटककारों की दृष्टि यथार्थवादी है; अतः विषय,रचना-शैली, अभिनेयता आदि में इनकी दृष्टि समाज, जीवन और व्यक्ति की स्वाभाविकता तथा व्यवहारिकता आदि पर बराबर रहती है। कम से कम लक्ष्य इनका ऐसा ही रहता है और इसे कार्यान्वित करने का ये पूरा प्रयत्न भी करते हैं। साथ ही इस पर भी ध्यान रखना चाहिए कि सिद्धांत को सर्वांशतः कार्यान्वित नहीं किया जा सकता। इसी

कारण समस्या नाटक में भी त्रुटियाँ मिलती ही हैं। श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र ने रंगमंच के विषय में भी यथार्थवादी दृष्टि से ही ये बातें कही हैं—"......बार-बार पर्दा गिराना और उठाना रंगमंच को अस्वाभाविक बना देता है। रंगमंच का संगठन ऐसा होना चाहिए कि दर्शकों को ऐसा न मालूम हो कि हम लोग किसी अजनबी जगह में या किसी जादूघर में आ गए है। जिस स्वाभाविकता के साथ हम अपने घर में रहते हैं उसी स्वाभाविकता के साथ हमें रंगमंच पर भी रहना है—अथवा दूसरे शब्दों में रंगमंच और हमारे स्वाभाविक निवास में कोई बहुत विशेष अंतर नहीं व्यक्त होना चाहिए।......" (मुक्ति का रहस्य, मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ, पृष्ठ २४) श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्या-नाटक अभिनेयता की दृष्टि से काफी सफल संघटित हुए हैं। श्री 'प्रसाद' जैसे नाटककारो के नाटको के अभिनय में जो अड़चन पड़ती है वह इन के नाटकों के अभिनय में नहीं। इनके नाटको के अभिनय में प्रभूत सुविधा है। अन्य समस्या नाटककारों की भाँति श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र ने भी यथास्थान रंगमंचीय विवरण और संकेत नवीन पद्धति के अनुसार दिए हैं।

—४—

श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र ने समस्या नाटक ही अधिक लिखे हैं। इन्हें समस्या नाटककार के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए। वैसे इन्होंने ऐतिहासिक नाटक भी लिखे हैं। 'अशोक' इनका प्रथम और ऐतिहासिक नाटक है। इनका 'गरुड़ध्वज' नाटक प्रकाशित हुआ है, जिसकी वस्तु का संबंध गुप्त-काल से है। इनके समस्या नाटक ये हैं—संन्यासी, 'राक्षस का मंदिर', 'मुक्ति का रहस्य', 'राजयोग' 'सिंदूर की होली' और 'आधीरात'।

हिंदी नाटक साहित्य में समस्या नाटककारों के क्षेत्र में श्री लक्ष्मी-

नारायण मिश्र का बहुत महत्व है। हिंदी में समस्या नाटक तो और लिखे गए, परंतु जहाँ तक समस्या नाटक के तत्वों का प्रश्न है इनके नाटकों में ही इनकी निहित अधिक से अधिक मिलती है। इस क्षेत्र में श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र ही अधिक से अधिक मौलिक और सफल दृष्टिगत होते हैं। इस क्षेत्र में इन्हें अकेले ही समझना चाहिए। यह भी ध्यान रखना है कि श्री मिश्र हिंदी-नाट्य साहित्य में सच्चे समस्या नाटकों का निर्माण करने वाले प्रथम नाटककार हैं। हिंदी में इन्होंने ही सर्व प्रथम सच्चे अर्थों में समस्या नाटकों की रचना की। इस दृष्टि से श्री मिश्र का हिंदी-नाटक के क्षेत्र में ऐतिहासिक महत्त्व भी स्थापित होता है।

१२

छायावाद-रहस्यवाद-युगीन नाट्य-कला

—१—

छायावाद-रहस्यवाद युगीन नाटकों की नाट्य-कला की कुछ चर्चा प्रसंगतः हो चुकी है। इस युग के प्रमुख नाटककार श्री जयशंकर 'प्रसाद' और श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र की नाट्य-कला की मीमांसा यथास्थान की गई है। इनकी नाट्य-कला की प्राचीनता, नवीनता और मौलिकता के दर्शन किए गए हैं। इन नाटककारों के अतिरिक्त कुछ और नाटककारों ने भी इस क्षेत्र में नवीनता की संनिहिति करने का प्रयत्न किया। यह बात दूसरी है कि ऐसे नाटककारो का नवीनता की संनिहिति का प्रयत्न सर्वांशतः स्वाभाविक और युक्तियुक्त नहीं सिद्ध हो सका। अभिनय-कला की दृष्टि से इस युग के कुछ नाटक बहुत ही खरे उतरे। जैसे-पांडेय श्री बेचन शर्मा 'उग्र' का 'महात्मा ईसा', श्री माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन युद्ध', 'श्री गोविंदवल्लभ पंत की 'अंगूर की बेटी' तथा अन्य नाटककारों के भी कुछ नाटक। अध्यवसित रूपकीय और गीति नाटकों की नाट्य-कला की चर्चा यथा प्रसंग की जा चुकी है।

इस युग में कुछ अन्य नाटककारों की भाँति श्री गोविंदवल्लभ पंत और सेठ श्री गोविंददास की दृष्टि भी नाट्य-कला की नवीनता पर थी। श्री गोविंद-वल्लभ पंत ने अभिनेयता पर विशेष दृष्टि रखी है। उन्होंने 'वरमाला' में मूक दृश्यों का विधान किया है परन्तु इस विधान का आधिक्य कर दिया, इससे कुछ अस्वाभाविकता आ गई। इसके अतिरिक्त उन्होंने अनेक कार्य-व्यापार मूक दृश्यों के अंतर्गत रखे हैं और ऐसे कार्य-व्यापार मूक

दृश्यों के अंतर्गत रखे हैं जिनमें मूकता खलती है; जैसे-कन्याहरण, युद्ध आदि में। इन्होंने कहीं-कहीं सघोष पर्दे के फटने का विधान भी किया है, जो पारसी कंपनियों को नाट्य-कला का प्रभाव लक्षित करता है। इन अस्वाभाविकताओं के होते हुए भी 'वरमाला' अभिनय की दृष्टि से अच्छा है।

—२—

सेठ श्री गोविंददास ने भी नाट्यकला में नवीनता के संनिवेश का कार्य किया है, जो समस्या नाटकों की नाट्य-कला से प्रभावित है। आप ने अपने नाटकों के दृश्यों में अकसर लम्बे-लम्बे रंग-संकेत दिए हैं, जिनमें स्थान, पात्र, परिधान निर्देश आदि का विवरण है। कहीं-कहीं दृश्यों के बीच में भी ऐसे रंग-संकेत हैं। इनके नाटकों को पढ़ने से ऐसा ज्ञात होता है कि इनमें नाटकत्व की कमी है। इस प्रकार के लम्बे-लम्बे विवरण बिना दिए भी केवल कथोपकथन द्वारा विवरणों में आई बहुत सी बातों का कार्य सध जाता है। ऐसे विवरणों के आ जाने से नाटक में कथात्व का अंश प्रधान-सा लगता है। ये विवरण कथात्व का काम करते हैं और इनके अतिरिक्त संनिहित कथोपकथन नाटकत्व का। इस प्रकार ऐसे नाटकों में नाटक के पूरे तत्त्व नहीं आ पाए हैं केवल कथोपकथन ही आया है। विवरण वाला अंश कथा के तत्त्व-सा लगता है

आपने अपने नाटकों में प्रायः सभी दृश्यों के आरम्भ में स्थान के साथ ही काल का भी निर्देश किया है।

सेठ श्री गोविंददास ने अपने 'कर्तव्य' नाटक में राम और कृष्ण की कथाओं को दो भागों में विभक्त कर नाटक का रूप दिया है। इस प्रकार नाटक दो भिन्न नाटकों के रूप में संमुख आया है। एक नाटक में दो विभिन्न कथाओं का लेना वस्तु के आधिक्य और अस्वाभाविकता की निहिति करता है।

'प्रकाश' के आदि और अंत के उपक्रम और उपसंहार के दृश्य रूपकात्मक हैं। उपक्रम में वृद्ध व्यक्ति की चीनी के वर्तन की दूकान में घुसकर उसके वर्तनो को नष्ट-भ्रष्ट करने वाला साँड़ नाटक के नायक 'प्रकाश' का प्रतिनिधि है। यह साँड़ उपसंहार में पकड़ा भी जाता है। इस प्रकार 'प्रकाश' को अध्यवसितरूपकीय नाटक का रूप दिया गया है। हिंदी के लिए यह नवीन नाट्य-कला है।

सेठ श्री गोविंददास के नाटकों में नाट्य-कला के नवीन तत्त्वों का संनिवेश अभिनेयता को दृष्टि-पथ में रख कर किया गया है। यह बात दूसरी है कि इनके संनिवेश से कहीं-कहीं अस्वाभाविकता आ गई है। इसका भी ध्यान रखना आवश्यक है कि श्री गोविंददास ने अपनी नाट्य-कला के निर्माण में सिनेमा की नाट्य-कला का अनुकरण भी यत्र-तत्र किया है।

—३—

छायावाद-रहस्यवाद युग मे स्वदेशी तथा विदेशी भाषाओं से हिंदी मे नाटकों के अनुवाद की गति बहुत ही मन्द रही। मौलिक नाटकों की रचना की ओर समर्थ नाटककारो की दृष्टि रहने के कारण अनुवाद पर लोगों का ध्यान कम गया।

१३

वर्तमान युग और एकांकी नाटक

(सन् १६३५—)

—१—

वर्तमान अथवा प्रगतिशील युग में नाटक के क्षेत्र में कार्य करने वालो में से अधिक संख्या वैसे ही लोगो की है जो छायावाद-रहस्यवाद-युग मे इस क्षेत्र में कार्य कर चुके है। छायावाद-रहस्यवाद-युग के कुछ नाटककारो ने अब नाटक लिखना बन्द कर दिया है। अभिप्राय यह कि वर्तमान युग मे उपज्ञा-संपन्न कोई नवीन नाटककार नहीं दृष्टिगत होता। प्रायः वे ही नाटककार इस युग मे भी कार्य कर रहे हैं जिन्होंने पूर्व युग मे अपनो रचनाओं द्वारा नाट्य-साहित्य को समृद्ध बनाया है।

वर्तमान युग में नाटक के क्षेत्र की गति तो अपेक्षा कृत मन्द है, परन्तु एकाकी नाटकों का निर्माण प्रभूत रूप से हो रहा है, और कुछ उपज्ञा-संपन्न एकांकी नाटककार भी दृष्टिगत हो रहे हैं।

—२—

हिंदी-साहित्य मे एकांकी नाटकों के निर्माण के दर्शन सन्' ३० से होने लगे थे। यहाँ स्मरण यह रखना है कि हिंदी में एकांकी नाटकों की रचना को आरम्भ से हमारा तात्पर्य वैसे एकांकी नाटकों के निर्माण के आरम्भ से है जो विदेशी रूपरेखा के अनुसार एकांकी नाटक की श्रेणी में आते हैं। विदेशी एकांकी नाटकों की देखादेखी हिंदी में सच्चे एकांकी नाटकों के निर्माण का आरम्भ ही हुआ। ध्यान इस बात पर रखना है कि यहाँ हमारी दृष्टि वैसे एकांकी नाटकों पर है जो विदेशो में रचे जा रहे हैं और किसी न किसी रूप में जिनके अनुकरण पर हिंदी

एकांकी नाटकों की रचना आरम्भ हुई, इसका निर्देश हुआ भी है। वैसे तो हिंदी में वर्तमान युग के पूर्व के युगो में भी एकांकी नाटको के रूप दिखाई पड़ते हैं, परन्तु इस युग में जैसे एकांकी नाटको का निर्माण हो रहा है वैसे ही एकाकी नाटकों को दृष्टि-पथ में रख कर पूर्व के युगों में एकांकी नाटकों का निर्माण हुआ, ऐसा तो नही कहा जा सकता। मतलब यह कि आज के से एकांकी नाटकों की रूप रेखा पूर्व के युगों के एकांकी नाटकों में नहीं मिलती, पूर्व के युगो में एकांकी नाटको की कला और वर्तमान युग के एकांकी नाटको की कला में अन्तर है। दोनों के प्रस्थान में अन्तर है, दोनों भिन्न लक्ष्य भी लेकर चले थे। वर्तमान युग के एकांकी नाटकों का मूल भारत में प्राचीन काल में ढूँढ़ना ठीक नहीं, इन का मूल और प्रेरक स्थान विदेश ही है, इसे सुधी स्वीकार करेंगे।

भारत में और हिंदी मे भी एकांकी नाटक लिखे गये, इसमें संदेह नहीं, परन्तु इनकी निर्माण कला अपनी थी। भारतीय नाट्य-शास्त्र में रूपक और उपरूपक के भेदों में से कुछ ऐसे हैं जो एकांकी हैं। रूपक के प्रकारों मे से व्यायोग, प्रहसन, अंक, वीथी और भाण एक-एक अंक के होते हैं। ईहामृग के विषय में मत भेद है। कुछ शास्त्रकार इसे एक अंक का मानते हैं, और कुछ चार अंकों का। उपरूपक के भेदो मे से एक अंकवाले ये है—गोष्ठी, नाट्यरासक, उल्लाप्य, काव्य, रासक, प्रेखण, श्रीगदित, विलासिका, हल्लीश और भाणिका।

एकांकी नाटक, लघु था आदि साहित्यांगों के लघु -रूपों के निर्माण के विषय में विद्वान् प्रायः यह कहते सुने जाते हैं कि इनके निर्माण का कारण विशिष्ट परिस्थितियों का आगमन है। प्रायः यह कहा जाता है कि साहित्यांगो के इन रूपो का निर्माण इसलिए हुआ कि श्रोता, पाठक और दर्शक को इतना समय नहीं है कि वह बड़े-बड़े उपन्यास, नाटक आदि पढ़े, उसका जीवन बहुत व्यस्त है, समय नहीं मिलता कि इनके

लिये नित्य कम से कम चार घंटे वह निकाल सके, अतः साहित्यकारों ने कम समय लेने वाली रचनाएँ—अर्थात् एकांकी नाटक और लघु कथा आदि—निर्मित कीं, जो उसके जीवन मे समय की दृष्टि से अधिक व्यवधान न डाल सकें। इस विषय में मेरी धारणा यह है कि स्वदेश में जीवन की अभी उतनी व्यस्तता नहीं है जितनी विदेशी दृष्टि वाले समझते हैं। बहुत व्यस्त रहने वाले नगरो में भी संभवतः जीवन की अधिक व्यस्तता नही है। वैसे तो वाणिक वृत्ति वालो का जीवन स्वप्न मे भी व्यस्त रहता होगा! यहाँ यह भी निवेदन कर दूँ कि ऐसे लोगों के लिए साहित्य का निर्माण नही किया जाता। जिन्हे द्रव्य की चर्चा चलाने से फ़ुरसत नहीं उनसे साहित्य की चर्चा चलानी भैंस के आगे भागवत पढ़ना है, क्योंकि ये शरीर और बुद्धि से इतने मोटे हो जाते हैं कि अक्ल को बड़ी नहीं समझते भैंस को बड़ी समझते हैं। मेरा मत तो यह है कि एकांकी नाटक, लघु कथा आदि का निर्माण इसलिए नहीं हुआ कि आधुनिक जीवन व्यस्त है, वरन् इसलिये हुआ कि ये भी साहित्यांगो के रूप हैं, ये भी साहित्य के ढाँचे हैं। मेरी दृष्टि में भारतीय और हिंदी का साहित्यकार इनकी रचना इन्हे इसी रूप में ग्रहण करके करता है।

यह तो स्पष्ट है कि हिंदी मे एकांकी नाटकों का आरम्भ लघु कथा की अपेक्षा बहुत बाद में हुआ—लगभग ३०-३५ वर्ष पश्चात्। लघु कथा का आरम्भ लगभग सन् १९०० में हुआ और एकांकी नाटक का आरम्भ सन् १९३० के आसपास। नाटक संघर्ष प्रधान रचना है और जिस समय हिंदी मे एकांकी नाटक की रचना का आरम्भ हुआ, जिसकी गति आज तक चल रही है, उस समय से लेकर आज तक भारतीय समाज, जीवन और व्यक्ति संघर्षों के बीच से चल रहा है। समाज, जीवन और व्यक्ति के सभी क्षेत्रों और वर्गों में अशांति, विषमता, बाधा आदि संघर्ष के तत्त्व विद्यमान हैं। अभिप्राय यह है कि एकांकी नाटकों के

निर्माण का आरम्भ संघर्ष मय परिस्थिति में हुआ, जो आज तक विद्यमान है।

—३—

भारतीय साहित्य में रूपक और उपरूपक के भेदों के रूप में जिन एकांकी नाटकों का उल्लेख किया जा चुका है उनका विधान स्वतन्त्र रूप से हुआ है और उनकी शास्त्रीय और व्यावहारिक रूपरेखा सहस्त्रों वर्ष पूर्व ही निर्मित हो चुकी थी। नाट्य-शास्त्रों में इनके निर्माण के नियम उसी समय निर्धारित हो गये थे। इसमें संदेह नहीं कि व्यवहार और प्रयोग के आधार पर ही इनका शास्त्रीय रूप स्थापित हुआ है, परन्तु व्यवहार और प्रयोग की प्राचीनता पर भी किसी को सन्देह नहीं होना चाहिए।

वर्तमान युग में प्रचलित एकांकी नाटको की प्राचीनता बहुत दूर तक नहीं जाती। इनकी रूपरेखा के निर्माण का आरम्भ लगभग चालीस वर्ष पूर्व ही हुआ है। इंगलैंड के प्रेक्षागृह में जो सामाजिक पहले पहुँच जाते थे उनके होहल्ले से बचने और उनके मनोरंजनार्थ भी प्रमुख नाटक के पूर्व दो-चार दृश्यों के नाटकों के अभिनय का प्रबन्ध प्रेक्षागृह के प्रबन्धक कर देते थे। इससे उनका आर्थिक लाभ भी होता था। इस प्रकार के विधान द्वारा देखने के लिए सामाजिक कुछ अधिक आते थे और जो देर से आते थे मुख्य नाटक को देखने के लिये उन्हे सुविधा भी मिल जाती थी। इस प्रकार प्रबन्धक लाभ में रहते थे। पहले खेले जानेवाले इस प्रकार के नाटक को 'करटेन रेजर' (Curtain Raiser) कहते थे। अभिप्राय यह कि मुख्य नाटक के अभिनय की पूर्व पीठिका के रूप में रंगमंच पर इनका विधान किया जाता था। रंगमंच का पर्दा ऐसे ही नाटक के अभिनय से उठता था और इसके अभिनय के पश्चात् मुख्य नाटक अभिनीत होता था। 'करटेन रेजर'

को ही एकांकी नाटक का आदि रूप समझना चाहिये। पहले रंगमंच पर इसका अभिनय मनोरंजन और समय काटने के लिये होता था, परंतु बाद में इसने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्थापित कर लिया। यह सब पर विदित है कि अब एकांकी नाटक की भी स्वतन्त्र और मौलिक कला निर्धारित और निर्मित हो गई है। जो 'करटेन रेजर' पहले मनोरंजनार्थ ही अभिनीत होता था, बाद में उसमें इतना सौष्ठव आ गया कि सामाजिक उसी के लिये विशेष रूप से आने लगे और मुख्य नाटक का महत्त्व गौण हो गया। कालांतर में 'करटेन रेजर' जो गौण नाटक था, अपने सौष्ठव के कारण स्वतन्त्र, मौलिक और प्रधान नाटक बन गया।

—४—

भारतीय साहित्य-शास्त्र में जितने एकांकी नाटक हैं, जिनका निर्देश ऊपर किया भी गया है, उन सभी के विषयों तथा रचना-पद्धति का संकेत शास्त्रीय ग्रन्थों में है। वस्तु, नेता और रस सभी दृष्टियों से उनकी रचना-पद्धति के विषय में स्पष्ट उल्लेख मिलता है। आधुनिक एकांकी नाटक की रचना-पद्धति के विषय में कोई सटीक शास्त्रीय विधान का निर्धारण नहीं हो पाया है—यद्यपि नाटक की रचना-शैली के विषय में इस प्रकार का निर्धारण मिलता है। अनेक कारणों में से इसका एक कारण यह है कि अभी एकांकी नाटक की वय प्रौढ़ नहीं है। नवीन साहित्यांग होने के कारण अभी इसकी परिपूर्ण मीमांसा नहीं हो पाई है। एक बात यह भी ध्यान देने की है कि विदेशी साहित्य में और हिंदी में भी इसकी रचना-पद्धति के विषय में जो विचारणा प्रस्तुत हुई है वह विशेषतः एकांकी नाटककारों द्वारा ही।

एकांकी नाटक की रचना-पद्धति के विषय में अनेक समीक्षकों तथा एकांकी नाटककारो ने अनेक मत प्रकट किये हैं। नाटक की रचना-कला के विषय में जिस प्रकार कुछ समान और सर्वमान्य मत स्थिर हुये हैं

उसी प्रकार एकांकी नाटक की रचना-कला के विषय मे अभी तक कोई समान और सर्वमान्य मत स्वीकृत नहीं किये जा सके हैं। नाटक तथा एकांकी नाटक की रचना शैली की समानता तथा असमानता का प्रश्न-एवं इनके पक्ष तथा विपक्ष मे समाधान की बात प्रायः संमुख आती है। कुछ का कथन है कि नाटक की रचना-शैली और उसके तत्त्व एकांकी नाटक में भी मिलते हैं। अभिप्राय यह कि कथा, उसके कार्य की अवस्थाएँ, चरित, रंग-निर्देश आदि सभी तत्त्व नाटक की भाँति ही एकांकी नाटक में भी होते है। भारतीय नाट्य-शास्त्र में नेता की दृष्टि से नाटक की कथा दो प्रकार की वर्णित है—एक आधिकारिक और दूसरी प्रासंगिक। विदेशी नाट्य-शास्त्र में भी मुख्य और गौण कथा की चर्चा आती है। यहाँ इस पर ध्यान रखना आवश्यक है कि नाटक की विस्तार सीमा से एकांकी नाटक की विस्तार-सीमा अपेक्षाकृत छोटी है। ऐसी अवस्था में नाटक के सभी तत्त्वो का संनिवेश इसमे होना और ढूंढ़ना दुस्साध्य है। वैसे नाटक मे भी उसके सभी तत्त्व प्रायः नहीं मिलते; और यदि कुशल कलाकार हो तो एकांकी नाटक में भी सभी तत्त्व मिल सकते हैं। परन्तु यह तभी संभव है जब कुशल एकांकी नाटककार हो और साथ ही सारे तत्त्वो को ढूंढने वाला मर्मी समीक्षक। अस्तु, मतलब यह कि एकांकी नाटक की विस्तार सीमा छोटी होती है। इसी कारण उसमें आधिकारिक वा मुख्य कथा रखने का ही समर्थन किया जाता है। एकांकी नाटक की विस्तार-सीमा छोटी है, अतः उसमें कोई फालतू (एक्स्ट्रा) कथा न आ जाय, इसी कारण प्राय: उसमें प्रासंगिक वा गौण कथा का निषेध किया जाता है। प्रासंगिक कथा के निषेध की ही भाँति एकांकी नाटक में गौण चरितों के संनिवेश का भी निषेध किया जाता है। एकांकी नाटक में गौण कथा तथा चरित का निषेध इसीलिये होता है कि इसमें स्थान की कमी है। इसके अतिरिक्त इसमें ढीलाढालापन न रहे, चुस्ती रहे, इस कारण भी इनके निषेध का आग्रह किया जाता है।

नाटक की वस्तुगत कार्य की सभी अवस्थाएँ एकांकी नाटक में भी नियोजित हों अथवा नहीं, इस प्रकार के प्रश्न भी प्रायः संमुख आते हैं। मतलब यह कि प्रारंभ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम तथा यदि विदेशी दृष्टि से विचार करें तो परिचय (इंट्रोडक्शन), संघर्ष (काम्प्लि-केशन), चरमसीमा (क्लाइमैक्स), वस्तुगत मोड़ (टर्निंग-प्वाइंट) और परि-णाम (रेजल्ट) अवस्थाएँ एकांकी नाटक में रहें अथवा नहीं। यहाँ इसका भी स्मरण रखना है कि कार्य की ये अवस्थाएँ सभी नाटकों में स्पष्टतः नियोजित करना और ढूँढ़ लेना दुष्कर होता है। अतः एकांकी नाटक की छोटी विस्तार-सीमा के भीतर इनकी प्राप्ति कठिन है। परंतु इन अवस्थाओं में से कुछ का इसमें रहना आवश्यक है। इस विषय पर यदि मैं विदेशी दृष्टि से विचार करूँ तो एकांकी नाटक में परिचय, संघर्ष और चरमसीमा कार्य की इन तीन अवस्थाओं का रहना अत्यावश्यक है। वैसे कुशल कलाकार सभी की नियोजना कर दे, तो कहना ही क्या। परंतु जैसा ऊपर कहा गया है, एकांकी की लघु विस्तार-सीमा में इनकी प्राप्ति असंभव-सी है। ऐसी परिस्थिति में कार्य की उक्त तीन अवस्थाओं का संनिवेश ही अलम् समझना चाहिए। एकांकी नाटक की कथा और उसके चरितों का परिचय और इसकी विस्तार-सीमा छोटी होने के कारण, परिचय के पश्चात् ही संघर्ष की नियोजना मैं उचित समझता हूँ। संघर्ष से यहाँ मेरा तात्पर्य वस्तुगत संघर्ष और चरितों के मानसिक संघर्ष दोनों—अर्थात् बाह्य और अंतस् दोनों संघर्ष से है। एतत्पश्चात् चरमसीमा की नियोजना होनी चाहिए और इसके पश्चात् एकांकी नाटक की समाप्ति हो जानी चाहिए।

नाटक और एकांकी नाटक दोनों में चरमसीमा का बहुत महत्त्व होता है। यह अवस्था एकांकी नाटक की अत्यंत प्रभाव-शाली अवस्था होती है। अतः ऐसे अत्यंत प्रभावशाली स्थल पर ही

नाटक की समाप्ति मै उचित समझता हूँ, जिससे पाठक, श्रोता और दर्शक समन्वित प्रभाव (ऐक्युमुलेटिव इफेक्ट) ग्रहण कर एकांकी नाटक से विदा लें। एकांकी नाटक में चरमसीमा को संस्थिति के स्थल के विषय में एकाधिक मत हो सकते हैं। विचार करने पर सामान्यतः इसकी संस्थिति के तीन स्थल संमुख आते हैं। एक मध्य में, दूसरा अंत के आस-पास और तीसरा अंत में। एकांकी नाटक की संक्षिप्त विस्तार-सीमा में मध्य मे चरमसीमा की स्थापना कर, तत्पश्चात् कथा को और आगे बढ़ाना प्रभावकर न होगा। यदि इसमे चरमसीमा को अंत के आसपास रखना है तो इसकी अपेक्षा अंत में रखना ही विशेष प्रभावकर होगा, यह सहज ही बोधगम्य है। इसका भी स्मरण रखना है कि परिचय, संघर्ष और चरमसीमा की अवस्थाओं मे कथा की गति एक के पश्चात् तुरत ही नहीं आती जायगी। इन तीनों के बीच में अपेक्षित गति अथवा कार्य-व्यापार होगा। अपेक्षित और उपयुक्त गति के पश्चात् ही एक के पश्चात् दूसरी अवस्था को संस्थिति होगी।

ऊपर इसका निर्देश किया गया है कि नाटक में चरमसीमा का बहुत महत्त्व है। मै तो यहाँ तक आगे बढ़कर कह सकता हूँ कि एकांकी नाटक मे चरमसीमा का ही महत्त्व है, क्योंकि लघु वस्तु की सीमा में इसका महत्त्व अत्यधिक बढ़ जाता है। चरम सीमा पर विशेष जोर देने का अभिप्राय यह नहीं है कि परिचय और संघर्ष की अवस्थाओं पर मेरा ध्यान नहीं है। सत्य तो यह है कि परिचय तथा संघर्ष से चरमसीमा अलग नहीं है। चरमसीमा प्रथम दो अवस्थाओं की तैयारी का प्रभावकर परिणाम है। ये दोनों अवस्थाएँ चरम सीमा को प्रस्तुत करती हैं। ऐसी अवस्था में इनका भी कम महत्त्व नहीं है।

—५—

विदेशी साहित्य का भारतीय साहित्य पर प्रभाव के कारण यूनानी

नाट्य-शास्त्र में मोमांभित अन्वितित्रयी (थ्री युनिटीज) की चर्चा हिंदी में भी चलती है। ये अन्वितियाँ कालान्विति, (यूनिटी ऑव टाइम), देशान्विति (यूनिटी ऑव प्लेस) और कार्यान्विति (यूनिटी ऑव ऐक्शन) हैं। नाट्य-शास्त्र में इन अन्वितियो की नियोजना नाटक के अभिनय की दृष्टि से ही की गई हैं, जिससे काल, देश (स्थान) और कार्य नाटक अथवा उसके अभिनय में भी व्यवस्थित रहें। ये नाटक में अव्यवस्थित और अस्वाभाविक न प्रतीत हो। इतने काल की कथा ली जाय कि नाटक के सुनने, पढ़ने और देखने में कोई अस्वाभाविकता न जान पड़े। जितने समय की कथा ली जाय वह नाटक में समुचित रूप से नियोजित और संभावित ज्ञात हो। श्री जयशंकर 'प्रसाद' के 'चंद्रगुप्त मौर्य' में पच्चीस वर्ष का समय ले लेने के कारण उसमें कलान्विति स्वाभाविक और समुचित नहीं लगती। एकांकी नाटक में इस प्रकार का गड़बड़ न होना चाहिए।

इसी प्रकार देश वा स्थान की दृष्टि से भी नाटक के अंतर्गत स्वाभाविकता औचित्य होना चाहिए। ऐसा न हो कि जिस कालावधि में किसी स्थान पर जो घटना संभव न हो उसकी नियोजना कर दी जाय। जैसे-किसी पात्र द्वारा किसी स्थान पर एक घटना घटित होती है, तो उसी पात्र द्वारा उक्त स्थान से पाँच सौ मील की दूरी पर एक घंटे पश्चात् ही दूसरी घटना घटित करवा दी जाय। ऐसा संभव नहीं है, अतः देश-संबंधी इस प्रकार की अस्वाभाविकता नाटक में नहीं होनी चाहिए।

नाटक में कार्य संबंधी अस्वभाविकता और अनौचित्य की नियोजना भी नहीं होनी चाहिए। नाटक के प्रत्येक कार्य में पारस्परिक रूप से सुसंबद्ध अन्विति अथवा एकता होनी चाहिए।

विचार करने पर विदित होगा कि ये अन्वितियाँ भी पारस्परिक रूप से संबद्ध हैं। सभी एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं। ऐसी अवस्था में नाटक

की रचना में इन पर ध्यान रखना आवश्यक है। ऐसा करने से नाटक में किसी प्रकार का अनौचित्य न आ पायगा।

नाटक और एकांकी नाटक मे भी अन्वितित्रयी की उपेक्षा नहीं की जा सकती। अन्वितियाँ पारस्परिक रूप से संबद्ध हैं, अतः इनमे से किसी की भी उपेक्षा करने से एकांकी नाटक में दोष आ सकता है। इन पर ध्यान तो रखना ही पड़ता है, चाहे जिस भी प्रकार ऐसा किया जाय। एकांकी नाटक की विस्तार-सीमा छोटी होती है, अतः यदि काल और देश संबंधी अन्वितियाँ सविस्तार न दिखलाई जा सकें तो रंग-निर्देश द्वारा ही इनसे संबद्ध सूचनाएँ रखी जा सकती हैं। कार्यान्विति की उपेक्षा तो की ही नहीं जा सकती। इस मीमांसा से यह स्पष्ट है कि अन्वितित्रयी एकांकी नाटक का आवश्यक तत्त्व है। इस पर ध्यान रखने से किसी भी प्रकार की अव्यवस्था और अनौचित्य एकांकी नाटक में नहीं आ सकता।

—६—

विस्तार-सीमा छोटी होने के कारण एकांकी नाटक मे रंग-निर्देश की विशेष आवश्यकता, और सार्थकता भी होती है। रंग-निर्देश द्वारा देश, काल, कार्य, पात्र आदि संबंधी बहुत-सी बातें संक्षेप मे सामाजिक, श्रोता और पाठक के संमुख रखी जा सकती हैं। एकांकी नाटक मे इसके इस प्रकार के महत्त्व को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि नाटक में यदि अत्यधिक और लंबे रंग-निर्देश को आवश्यक माना जाय तो एकांकी नाटक में इसकी समुचित नियोजना आवश्यक है। किसी तत्त्व की अति न हो सर्वत्र ही इस पर ध्यान रखना चाहिए।

एकांकी नाटक की रचना-पद्धति में प्रयुक्त तत्त्वों की यह संक्षिप्त विवेचना है। इसकी रचना में इन तत्त्वों पर ध्यान रखना अनिवार्य हो जाता है। इन तत्त्वों का उपयोग कौन एकांकी नाटककार किस रूप में करता है, यह दूसरी बात है। मौलिक एकांकी नाटकार इनकी नियोजना अपने ढंग से कर अपनी रचना में विशेषता की स्थापना कर सकता है। वह इनकी नियोजना की नवीन पद्धतियाँ भी प्रवर्तित कर सकता है।

१४

एकांकी नाटककार

—१—

हिंदी में एकांकी नाटक की रचना के आरंभ काल का और उस समय की परिस्थिति का निर्देश किया जा चुका है। यह प्रश्न झगड़े का है कि हिंदी में सर्व प्रथम एकांकी नाटक कब और किसके द्वारा लिखा गया। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इसके आरंभिक रचनाकारों में श्री जयशंकर 'प्रसाद', पांडेय श्री बेचन शर्मा 'उग्र', श्री रामकुमार वर्मा आदि एकांकी नाटककार हैं।

देखा जा चुका है कि छायावाद-रहस्यवाद-युग में भी विभिन्न प्रकार की वस्तुओं को ग्रहण कर नाटकों की रचना की गई। वर्तमान युग में एकांकी नाटक का वस्तु-क्षेत्र भी उक्त युग के नाटकों की वस्तु की भाँति ही व्यापक है। अभिप्राय यह कि वर्तमान युग में एकांकी नाटक की वस्तु भी सामाजिक, पौराणिक, ऐतिहासिक आदि क्षेत्रों से गृहीत हुई है।

—२—

हिंदी के एकांकी नाटक में समाज के जिस वर्ग से संबद्ध अधिक वस्तु ग्रहण की गई है वह है मध्य वर्ग। इस वर्ग के अंतर्गत शिक्षा-संपन्न बाबू समाज भी आता है और छोटे पूँजीपतियों, रईसों आदि का समाज भी, जिन्हें उच्च मध्य वर्ग के अंतर्गत रख सकते हैं। हिंदी के एकांकी नाटकों को देखने से विदित होता है कि इनमें अधिक संख्या ऐसे नाटकों की है जिनमें बाबू वर्ग के समाज के चित्र हैं। अफसर, अध्यापक, क्लर्क आदि के बाह्यांतर जीवन के अधिक चित्र सामाजिक एकांकी नाटकों में हैं। श्री रामकुमार वर्मा, श्री भुवनेश्वर प्रसाद, श्री गोविंददास, श्री उपेंद्रनाथ 'अश्क', श्री उदयशंकर भट्ट आदि प्रायः सभी एकांकी नाटककारों ने

मध्य वर्ग के इसी समाज की वस्तु ग्रहण की है। पूँजीपतियों, रईसों आदि के जीवन के चित्र भी एकांकी नाटकों में खींचे गए हैं, परन्तु कम। ऐसे एकांकी नाटकों में प्रायः इनके जीवन की विडंबना और विगर्हणा प्रदर्शित है। श्री उदयशंकर भट्ट और श्री गोविंददास के एकांकी नाटकों में इनके जीवन की वस्तु मिलती है। ऐसे लोगों के जीवन की यथार्थता दिखा कर प्रत्यक्षतः और परोक्षतः भी इन पर चोट करने की चेतना श्री उदयशंकर भट्ट और श्री उपेंद्रनाथ 'अश्क' में अधिक है। श्री उदयशंकर भट्ट के एकांकी नाटकों की एक पुस्तक का नाम 'अभिनय एकांकी नाटक' है। 'चरवाहे', 'तूफ़ान से पहले' तथा 'देवताओं की छाया में' में श्री उपेंद्रनाथ 'अश्क' के एकांकी नाटक संगृहीत हैं।

मध्य वर्ग के शिक्षा संपन्न समाज के जीवनगत पुरुष और स्त्री के पारस्परिक प्रेम को लेकर विशेष एकांकी नाटक लिखे गए दिखाई पड़ते हैं। मध्य वर्ग के इस समाज के जीवन में प्रेम संबंधी समस्याओं पर भी श्री भुवनेश्वर प्रसाद, श्री रामकुमार वर्मा आदि ने विशेष ध्यान दिया है। अन्य एकांकी नाटककारों की अपेक्षा श्री भुवनेश्वर प्रसाद का ध्यान इस ओर अधिक आकृष्ट हुआ है। इस समाज के जीवन के प्रेम को इन्होंने पति, पत्नी, प्रिय, प्रेमी के रूप में चित्रित किया है और ऐसा कर अनेक प्रकार की समस्याएँ संमुख लाई हैं। इन्होंने इस समाज के जीवन के प्रेम को दो पुरुष और एक स्त्री के माध्यम द्वारा सामने रखा है, जिससे संघर्ष की नियोजना भली भाँति की जा सके। श्री भुवनेश्वर प्रसाद ने इस प्रकार के संविधान को स्वयं स्वीकार किया। यहाँ इसका स्मरण रखना आवश्यक है कि ये विदेशी नाटकों और एकांकी नाटकों से विशेष प्रभावित हैं—अधिकतर इब्सन और बर्नार्ड शा के नाटकों और एकांकी नाटकों से। ऐसी दशा में इस समाज की प्रेमगत बातों की अभिव्यक्ति प्रायः विदेशी ढंग से की है।

हिंदी की कथाओं में निम्न अथवा सामान्य वर्ग के जीवन के चित्र अधिक आते हैं। इस वर्ग से वस्तु ग्रहण कर एकांकी नाटको की रचना अभी बहुत कम हुई है। एकांकी नाटकों में सामान्य वर्ग के जीवन के चित्र लाकर अभिनय के द्वारा इस वर्ग में चेतना भरने का अच्छा काम किया जा सकता है। परन्तु अभी तक यह कार्य विशेष रूप से नहीं किया जा सका है। सामान्य वर्ग के जीवन से वस्तु ग्रहण कर एकांकी नाटक को रचना का थोड़ा-बहुत कार्य श्री गोविंददास ने किया है। श्री गोविंददास गांधीवादी हैं, अतः हिंदू, मुसलमान, किसान, अछूत आदि के जीवन के चित्र इन्होंने गांधीवादी दृष्टि से दिए हैं, जिनमें उक्त समाज के राजनीतिक, सामाजिक आदि जीवन की समस्याएँ आ गई हैं। अपने एकांकी नाटको में ये चित्र ही सामने लाते है। किसी विषय की बौद्धिक उठान और उसका समाधान इनके नाटको मे अत्यल्प मिलते हैं। इनके एकांकी नाटकों का बौद्धिक स्तर सामान्य है।

—३—

पौराणिक वस्तु को ग्रहण कर हिंदी में एकांकी नाटकों की रचना कम की गई है। ऐसी वस्तु को लेकर श्री सद्गुरुशरण अवस्थी ने कुछ एकांकी नाटक लिखे हैं। बालि और सुग्रीव, सीता, प्रह्लाद आदि से संबद्ध इतिवृत्त के आधार पर आप के एकांकी नाटक हैं। यहाँ इसका स्मरण रखना है कि आपने यद्यपि वस्तु पौराणिक ग्रहण की है तथापि इन (वस्तु) का प्रतिपादन आधुनिक बौधिक दृष्टि से किया है और ऐसा करने के कारण वे कथाएँ जो कोरे पौराणिक रूप में लोक में प्रचलित हैं बुद्धिगम्य-सी लगती हैं। अभिप्राय यह है कि इन्होंने पौराणिक कथाओं को लेकर भी उनका प्रतिपादन नवीन और आधुनिक दृष्टि से किया है। कथा की कोरी पौराणिकता को भी इन्होंने बोधगम्य बनाया है। श्री रामकुमार वर्मा के 'अंधकार' नामक एकांकी नाटक में

पौराणिक आख्यान द्वारा प्रेम की समस्या संमुख रखी गई। सामाजिक वस्तु पर विशेष दृष्टि रखने के कारण वर्तमान समय में पौराणिक वस्तु को ग्रहण कर कम एकांकी नाटक लिखे गए, जो लिखे भी गए उनका प्रतिपादन आधुनिक दृष्टि से होने के कारण उनमें समस्याएँ परोक्षतः वर्तमान समय के समाज की ही निहित हुई हैं।

—४—

ऐतिहासिक वस्तु ग्रहण कर अधिक एकांकी नाटक लिखे गए दृष्टिगत होते हैं। सेठ श्री गोविंददास ने इस क्षेत्र में विशेष कार्य किया है। इनके 'जालौक और भिखारिणी,' 'चंद्रापीड और चर्मकार,' 'शिवाजी का सच्चा स्वरूप,' 'निर्दोष की रक्षा,' 'कृष्णाकुमारी' (ये पाँच एकांकी नाटक) 'पंचभूत' नामक पुस्तक में संगृहीत हैं। 'सच्चा धर्म,' 'बाजीराव की तस्वीर,' 'सच्ची पूजा,' 'भय का भूत,' 'अजीबोगरीब मुलाकात' (ये 'एकादशी' में संगृहीत हैं) आदि एकांकी नाटक ऐतिहासिक और अर्द्ध ऐतिहासिक वस्तु को लेकर निर्मित हुए हैं। श्री रामकुमार वर्मा के 'चारुमित्रा' और 'पृथ्वीराज की आँखें' तथा श्री उदयशंकर भट्ट के 'दुर्गा' नामक एकांकी नाटक की वस्तु का संबंध भी इतिहास से है। इन एकांकी नाटकों को देखने से विदित होता है कि इनकी वस्तु का आधार विशेष रूप से भारत के मध्य कालीन इतिहास पर है। मराठों तथा राजपूतों के इतिहास पर श्री गोविंददास की दृष्टि विशेष गई है। भारत के प्राचीन इतिहास से संबद्ध कथानक भी इन्होंने ग्रहण किए हैं, परन्तु अपेक्षाकृत कम।

ये ऐतिहासिक एकांकी नाटक आदर्शवादी हैं, अतः ऐतिहासिक वस्तु ग्रहण कर इनके द्वारा वर्तमान समाज, जीवन और व्यक्ति के हृदय और मन में चेतना भरने का लक्ष्य सिद्ध किया गया है। कुछ एकांकी नाटक तो ऐसे हैं जिनके द्वारा स्पष्ट रूप से यह लक्षित होता है कि

वर्तमान समस्या के हल के उदाहरण के रूप में ये निर्मित हुए हैं। श्री गोविददास के 'चंद्रापीड और चर्मकार' एकांकी नाटक का लक्ष्य यही है। जो एकांकी नाटक वर्तमान समस्याओं के हल के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत नहीं दिखाई पड़ते उनमें समाज, जीवन और व्यक्ति के लिए आदर्श की स्थापना की गई है, जिससे इनमें सुख, शांति की स्थापना हो।

—५—

एकांकी नाटक की रचना में प्रयुक्त तत्त्वों की चर्चा यथास्थान की जा चुकी है। हिंदी के एकांकी नाटककारों ने एकांकी नाटक की रचना-कला के तत्त्वों का उपयोग अपनी रचनाओं में किया है, जिससे वे अभिनेयता और प्रभावात्मकता की दृष्टि से सफल हो सकें। यह देखा गया है कि एकांकी नाटक की रचना की प्रेरणा विदेशों में लिख गए एकांकी नाटकों से मिली। ऐसी अवस्था में रचना-कला के तत्त्व और उनके संविधान की प्रणाली भी विदेशी ढंग से चलानी पड़ी। भारत में भी एकांकी नाटक थे, परन्तु हिंदी में प्रायः सभी एकांकी नाटककारों की दृष्टि संमुख प्रस्तुत विदेशी एकांकी नाटकों पर पहले तथा विशेष रूप से गई, एकांकी नाटकों के भारतीय रचना-कौशल और संविधान पर नहीं गई और बाद में गई भी, तो थोड़े ही लोगों की और बहुत कम।

यह तो नहीं कहा जा सकता कि एकांकी नाटक की रचना-कला से हिंदी के एकांकी नाटककार अपरिचित हैं। अपनी रचनाओं को अभिनेय और प्रभावशाली बनाने के लिए सभी रचना-कला के तत्त्वों का उपयोग करते हैं। कौन चाहता है कि उसकी रचना में रसात्मकता न हो और अपनी सफलता के लिए वे सावधान भी रहते हैं। परन्तु सभी रचनाएँ संपूर्णतः रसात्मक, अभिनेय और प्रभावशाली होती हैं, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। ऐसा भी होता

है कि रचनाकार विशेष रचना-कला के सभी तत्त्वों से अभिज्ञ होते हुए भी किसी विशेष तत्त्व पर अधिक दृष्टि रखता है और रचना को रसात्मक बनाने में इसे सहायक भी समझता है। अभिप्राय यह कि प्रत्येक रचनाकार की अपनी विशिष्ट रचना-कला होती है। किसी तत्त्व पर विशेष दृष्टि रखने के कारण रचना-कला के अन्य तत्त्वों की उपेक्षा अथवा उनके सम्यक् रूप से संनिहित न होने की आशंका भी रहती है। ऐसी ही अवस्था में समीक्षक दोष-दर्शन करता है। कहने का अभिप्राय यह कि अनेक कारणों से सोलहों आने खरी और सफल रचनाएँ संमुख नहीं आ पातीं।

श्री रामकुमार वर्मा, श्री उदयशंकर भट्ट, श्री भुवनेश्वर प्रसाद, श्री उपेद्रनाथ 'अश्क,' सेठ श्री गोविंददास आदि हिंदी के एकांकी नाटककारों की रचनाओं में एकांकी नाटक की रचना-कला के तत्त्वों का समुचित संनिवेश मिलता है। सभी एकांकी नाटककारों ने अपनी रचना को रसात्मक, अभिनेय और प्रभावशाली बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया है। एकांकी नाटक का रचना-कौशल श्री रामकुमार वर्मा की रचनाओं में समुचित रूप से दृष्टिगत होता है। कुतूहल, आंतरिक संघर्ष, वस्तुगत कार्य की उपयुक्त स्थान पर स्थापना आदि पर श्री वर्मा की दृष्टि भली भाँति गई है। श्री उदयशंकर भट्ट अपने नाटकों की भाँति एकांकी नाटकों में भी मनोवैज्ञानिकता पर विशेष दृष्टि रखते हैं। इनकी रचनाओं में मार्मिकता, चुस्ती, वस्तु का क्रमिक विकास मिलता है। श्री भुवनेश्वर प्रसाद रंग-निर्देश करते समय सूक्ष्म विवरणों पर भो ध्यान देते हैं। इनके रंग-निर्देश की शैली में पूरी व्यंग्यात्मकता मिलती है। रंग-निर्देश की सार्थकता इनके एकांको नाटकों में दृष्टिगत होती है। श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी में भी यह विशेषता मिलती है। सेठ श्री गोविंददास की दृष्टि अन्वितित्रयी पर विशेष गई है। अपने नाटकों की ही भाँति एकांकी

नाटकों में भी इन्होंने 'उपक्रम' और 'उपसंहार' की कला का उपयोग प्रायः किया है। श्री गोविंददास के एकांकी नाटक बहुत ही शीघ्रता में लिखे गए प्रतीत होते हैं। अतः इनमें कलात्मकता की कमी मिलती है। इनमें कथोपकथन का रूप ही प्रधान है।

सेठ श्री गोविंददास ने मोनोड्रामा भी लिखे हैं, यह एक प्रकार का आकाशभाषित है, जिसमें एक ही पात्र किन्हीं वस्तुओं वा व्यक्तियों को लक्ष्य कर निवेदन करता है। श्री गोविंददास के 'चतुष्पथ' में उनके चार मोनोड्रामा संगृहीत है।

१५

ध्वनिनाटक और ध्वनिरूपक

—१—

भारत को विदेशी शासन से मुक्ति मिलने पर हिंदी-भाषा और साहित्य का प्राप्य क्रमशः मिलने लगा। रेडियो के अधिकारियों की दृष्टि भी उसके इस प्राप्य पर गई और हिंदी-रचनाओं का भी नाट्यरूप रेडियो द्वारा प्रसारित किया जाने लगा। ऐसी स्थिति में हिंदी के नाटककारों ने रेडियो पर प्रसारित होने योग्य ध्वनिनाटकों तथा ध्वनिरूपकों की रचना की ओर भी ध्यान दिया। हिंदी में नाटक-रचना के इस क्षेत्र मे प्रतिमित कार्य अभी थोड़ा ही हुआ है, मगर यह कार्य जारी है, और इसकी प्रगति संतोषजनक है।

ध्वनिनाटक और ध्वनिरूपक की अपनी एक अलग रचना-कला (टेकनीक) है; अतः नाटक-साहित्य में इनके भी अलग प्रकार हैं। ऐसी स्थिति में साहित्य में इस प्रकार के नाटक और रूपक का भी महत्त्व है। कहना न होगा कि साहित्य की इस प्रकार की रचनाऐं विकसित विज्ञान का परिणाम हैं—ऐसे विकसित विज्ञान का परिणाम जो मानव का हित या मंगल-साधन कर सकता है। भविष्य में भी ऐसे विज्ञान का प्रभाव साहित्य पर पड़ेगा, और यदि साहित्य यह प्रभाव नहीं ग्रहण कर सकेगा तो संभवतः वह समय की गति से पीछे छूट जाय। इसका कारण यह है कि साहित्य और विज्ञान दोनों संस्कृति की अभिव्यक्ति के साधन हैं, अतः परिस्थितिवश अपने मूल रूप में ये अन्योन्याश्रित होकर ही चलेंगे। अस्तु।

—२—

'ध्वनिनाटक' और 'ध्वनिरूपक' शब्द रेडियो के क्षेत्र में दो भिन्न

प्रकार की नाटक-रचनाओं के लिये किसी न किसी रूप में प्रयुक्त हो रहे हैं। अतः मैंने इन्हीं का प्रयोग करना उचित समझा। वैसे भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार 'नाटक' रूपक का प्रथम भेद है। रूपक के भेद ये हैं—१. नाटक, २. प्रकरण, ३. भाण, ४. प्रहसन, ५. व्यायोग, ६. समवकार, ७. डिम, ८. ईहामृग, ९. अंक, १०. वीथो। मगर यहाँ 'ध्वनिनाटक' और 'ध्वनिरूपक' में प्रयुक्त 'नाटक' और 'रूपक' शब्द भारतीय नाट्यशास्त्र के उक्त तात्विक अंतर पर दृष्टि रख कर नहीं प्रयुक्त हुए हैं, ऐसा जान पड़ता है। यहाँ ये दो भिन्न प्रकार की रचनाओं के लिए प्रयुक्त दो भिन्न नाम ही जान पड़ते हैं।

—३—

ध्वनिनाटक और ध्वनिरूपक ने अपने क्षेत्र बहुत ही व्यापक कर लिये हैं—वैसे ही जैसे सिनेमा ने। सिनेमा में किसी भी कथा—चाहे वह विशुद्ध कथा हो अथवा प्रबन्ध काव्यगत कथा—को संलाप वा कथोपकथन का रूप देकर चित्रपट पर प्रस्तुत कर देते हैं। इसी प्रकार किसी भी कथा वा प्रबन्ध काव्यगत कथा को कथोपकथन, विवरण, सूचना आदि द्वारा रेडियो पर ध्वनिनाटक तथा ध्वनिरूपक के रूप में प्रस्तुत कर देते और कर सकते हैं। ऐसा करने के लिये सिनेमा तथा रेडियो दोनों में कुशल संलाप वा कथोपकथन-लेखक की आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि कथा को नाट्य बनाने के लिये उसे संलाप वा कथोपकथन का रूप देना ही होगा। इस प्रकार अनेक उपन्यासों और कहानियों को सिनेमा और रेडियो में नाट्य का रूप दिया जाता है। प्रबन्ध काव्य के संबन्ध में भी ऐसा ही समझना चाहिये। श्री मैथिलीशरण गुप्त के 'यशोधरा' काव्य को ध्वनिरूपक का रूप दिया गया था।

—४—

'ध्वनिनाटक' और 'ध्वनिरूपक' शब्दों का प्रयोग क्रमशः 'रेडियो

ड्रामा' और 'रेडियो फीचर' के लिये चल रहा है। इस पर भी ध्यान जाना चाहिये कि इनमें 'ध्वनि' का प्रयोग 'रेडियो' के लिये हुआ है, जिसका सारा संभार 'ध्वनि' को ही लेकर है।

'ध्वनिनाटक' में अर्थात् रेडियो द्वारा प्रसारित होने वाले नाटक में रेडियो की समय-सीमा के भीतर प्रस्तुत होने वाली नाटक के तत्वो से युक्त रचना आयेगी। समय-सीमा का ख्याल यदि छोड़ दें तो सामान्य नाटक तथा 'ध्वनिनाटक' में विशेष अन्तर न जान पड़ेगा। मगर इसका तो ख्याल रखना ही होगा कि नाटक रंगमंच पर प्रस्तुत होता है और ध्वनिनाटक रेडियो पर; एक के प्रस्तुत करने में अधिक समय—तीन-चार घंटों का समय भी—लग सकता है और दूसरे के प्रस्तुत करने में कुछ कम समय—अधिक से अधिक एक घंटा, सवा घंटा—लगाना पड़ेगा, क्योंकि रेडियो का एक ही कार्यक्रम सामान्यतः अधिक देर तक नहीं चलाया जा सकता। ऐसी स्थिति में ध्वनिनाटक को बड़े अथवा छोटे एकांकी नाटक के रूप में समझा जा सकता है। ये बातें करते हुये मेरी दृष्टि समय पर अधिक है। मगर रंगमंच पर प्रस्तुत होने वाले नाटक तथा रेडियो पर प्रस्तुत होने वाले ध्वनिनाटक की नाट्य-पद्धति में बहुत भेद है। नाटक को रंगमंच पर प्रस्तुत होने के लिये सभी संभार तथा सुविधायें प्राप्त हैं और ध्वनिनाटक को जो कुछ भी करना है सब ध्वनि के सहारे। ध्वनिरूपक की भी यही स्थिति है। नाटक कान और आँख दोनों का अवलंबन बनता है और ध्वनिनाटक केवल कान का अवलंबन। इस प्रकार नाटक तथा ध्वनिनाटक में समय की दृष्टि से ही अंतर नहीं है, प्रस्तुत करने की पद्धति की दृष्टि से भी इनमें अंतर है।

ध्वनिरूपक में नाटक तथा ध्वनि नाटकगत प्रमुख-प्रमुख पात्रों का संलाप वा कथोपकथन तो रहता ही है साथ ही उसमें वस्तु तथा पात्रगत बहुत सी सूचनायें; बहुत से विवरण देने के लिये सूत्रधार (नैरेटर) की

नियोजना की जाती है। यहाँ साहित्य-रचनागत चुनाव पर दृष्टि जानी आवश्यक है। साहित्य के सभी अंगों की रचनाओं में रचनाकार रचना करते समय चुनाव पर बराबर दृष्टि रखता है, अर्थात् रचना करते समय वह इस पर अवश्य ध्यान रख कर चलता है कि वह ऐसी चुनी हुई सामग्री का चित्रात्मक रूप अपने साहित्य में खड़ा करे कि देखने; सुनने और पढ़ने वाले पर उसका प्रभाव पड़े ही; क्योंकि संसार में तो अनेक प्रकार की वस्तुयें हैं, सब का वर्णन वह कहाँ तक करेगा। साहित्य के एक अंग नाटक में तो यह चुनाव अनिवार्य है; क्योंकि इसमें कहना बहुत रहता है और स्थान तथा समय कम रहता है। और ध्वनिरूपक में तो अपेक्षाकृत और कम समय रहता है, अतः संपूर्ण वस्तु को श्रोत्र का विषय न बना कर चुनी हुई वस्तु को ही रचनाकार ध्वनि द्वारा प्रसारित करवाता है, शेष बहुत सी वस्तु को सूचना, विवरण आदि के रूप मे सूत्रधार द्वारा कहला दिया जाता है। ध्वनिरूपक में इस प्रकार नाटकगत काल, स्थान और कार्य नामक संकलनत्रयी का सुविधा पूर्वक निर्वाह भी सूत्रधार की नियोजना से कर लिया जाता है। ऐसी स्थितिं में बहु काल तथा स्थान संबन्धी वस्तु भी अल्प समय-सीमा के भीतर ध्वनिरूपक के रूप में रेडियो द्वारा प्रसारित कर दी जाती है। इस मीमांसा का निष्कर्ष यह कि ध्वनिरूपक में सूत्रधार (नैरेटर) का बहुत महत्त्व है। श्री उदयशंकर भट्ट ने अपने 'कालिदास' नामक ध्वनिरूपक में किन्हीं पात्रों द्वारा कालिदास के समय की संस्कृति के कुछ नमूने दिखला कर बाद में उस समय की संस्कृति का संक्षिप्त वर्णन सूत्रधार द्वारा दिलवाया है। इस प्रकार का सूत्रधार का कार्य संपूर्ण ध्वनिरूपक में चलता है।

संस्कृत के नाटक के 'आमुख' वा उसकी 'प्रस्तावना' में भी सूत्रधार (मैनेजर आॅव दि स्टेज) आता है और उसका काम होता है नटी, विदूषक वा पारिपार्श्वक आदि से संलाप करते हुये अभिनेय नाटक के

रचयिता की विशेषता, आदि सामाजिक को बतलाना; अभिनेय नाटक की कथा से सामाजिक का परिचय कराना, आदि। मगर संस्कृत के नाटकों में यह आरम्भिक संलाप (प्रोलाग) 'प्रस्तावना'; 'आमुख' में ही आता है। ध्वनिरूपक में यह सर्वत्र बना रहता है।

—५—

ध्वनिनाटक तथा ध्वनिरूपक में जितने कम पात्र हों उतना ही अच्छा है। कम पात्र रहने से इनके प्रस्तुतीकरण की सुव्यवस्था की जा सकती है, ऐसी स्थिति में ये श्रोता के लिए अधिक प्रभावशाली हो सकते हैं। हम जानते हैं कि ध्वनिनाटक तथा ध्वनिरूपक का सर्वस्व ध्वनि ही है, सब कुछ ध्वनि द्वारा ही इन्हें व्यक्त करना रहता है। ऐसी स्थिति में विभिन्न पात्रों की ध्वनियों में भी वैभिन्य का होना आवश्यक है—इनमें स्वाभाविकता लाने के लिये। ध्वनिनाटक और ध्वनिरूपक में श्रोता की आँखों के सामने अभिनय तो नहीं होता; अतः एक दो पात्रों द्वारा ही कई व्यक्तियों के संलाप व्यक्त कर दिये जायँ, यह ठीक नहीं है। सुनने वाले को इसका ज्ञान तो हो ही जाना चाहिये कि ध्वनिनाटक और ध्वनि-रूपक में जितने पात्र हैं उन सभी की ध्वनियों में वैभिन्य है। ध्वनि की विभिन्नता ही इस प्रकार की रचनाओं में स्वाभाविकता लाती है, ऐसा न होने से सब कुछ अयथार्थ जान पड़ेगा। अभिप्राय यह कि कम पात्रों के रहने से अभिनेताओं की अच्छी व्यवस्था की जा सकती है, जिससे इन (नाटकों तथा रूपकों) में यथार्थता का संनिवेश हो।

—६—

ध्वनिनाटक की वस्तु की गतिविधि अथवा उसके 'कार्य' को भी ध्वनि द्वारा ही व्यक्त किया जाता है, ध्वनिरूपक में तो इस कार्य की पूर्ति सूत्रधार द्वारा की भी जा सकती है, मगर ध्वनिनाटक जिसमें सूत्रधार नहीं रहता उसमें इस कार्य की पूर्ति के लिये ध्वनि का अवलंब लेना ही

पड़ता है। श्री अज्ञेय के 'कविप्रिया' नामक ध्वनिनाटक के एक अंश से मेरी बात स्पष्ट हो जायगी—

सुधा—वह रही, बगीचे में। शांता!

सुरेश—नमस्कार, शांता भाभी! बागवानी हो रही है?

शांता—अरे सुधा, सुरेश भैया? आइए (सकपकाती-सी) मेरे हाथ मिट्टी के हो रहे हैं—माली, दौड़कर जरा देवीसरन से कुर्सियाँ डाल देने को कहो तो—

(माली के खुरपी-फावड़ा फेंकने का शब्द)

इसी पद्धति का सहारा उन्होंने अन्यत्र भी लिया है। अंतिम पंक्ति द्वारा दिये गये नाट्य-निर्देश से ध्वनिनाटक की वस्तु की गति विधि का पता चलता है—

आवश्यकतानुसार पात्रों के अंग संचालन, उनके वस्त्र के झटकों; उनकी बोलने की गति, उनके लहजे आदि से भी ध्वनिनाटक तथा ध्वनि-रूपक के कार्य की जानकारी श्रोता को होती है। ऐसी स्थिति में इनको प्रस्तुत करने के लिये कुशल नाटकीय व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती है।

रंगमंचीय नाटक अथवा सिनेमा में जैसे अंतःसंगीत (बैकग्राउंड म्यूजिक) की व्यवस्था करनी पड़ती है वैसे ही ध्वनिनाटक तथा ध्वनि-रूपक में भी किसी न किसी रूप में अंतःसंगीत रहता है।

ध्वनिनाटक तथा ध्वनिरूपक में दृश्यान्तर की अभिव्यक्ति यथावसर विराम (पॉज) अथवा संगीत (म्यूजिक) के सहारे की जाती है। काल-भेद वा अंतर दिखलाने के लिये भी इनका उपयोग होता है।

किसी व्यक्ति की यथार्थ ध्वनि के लिये ग्रामोफोन के रिकार्डों में उस (व्यक्ति) की ध्वनि भर कर उसका उपयोग किया जा सकता है—उसके भाषण, उसका कविता-पाठ, आदि का। ऐसी स्थिति में किसी के भाषण, कविता-पाठ, आदि के रिकार्ड का मिलना, या इनका उन

(रिकार्डों) में भर लिये जाने का प्रश्न अवश्य उठता । सो, इस प्रकार की व्यवस्था हो जाने पर ही इनका उपयोग किया जा सकता है । श्री अज्ञेय ने अपने एक ध्वनिनाटक में गांधी जी के भाषणों के लिये ग्रामोफोन के रिकार्डों का उपयोग करने का निर्देश किया है ।

—७—

ध्वनिनाटक और ध्वनिरूपक की इस मीमांसा से यह स्पष्ट है कि इनकी अलग रचना-पद्धति है । यह भी स्पष्ट है कि इनके रेडियो पर प्रस्तुत होने का ढंग भी अपना है । यहाँ इस का निर्देश कर देना आवश्यक जान पड़ता है कि जो नाटककार ध्वनिनाटक तथा ध्वनिरूपक के रेडियो पर प्रस्तुत होने की कला से परिचित है और उस (कला) का उपयोग अपनी रचना में कर पाते हैं वे अपेक्षाकृत अधिक सफल हो सकते हैं, वे अपने लक्ष्य वा संदेश को श्रोता तक संपूर्णतः और प्रभावशाली ढंग से पहुँचा सकते है । अनेक कलाकारों के कुशल प्रयत्नों से कोई नाटक सफल होता है; और इसके येकलाकार हैं—नाटककार, अभिनेता, रंग-संचालक, नाट्य-निर्देशक आदि । किसी नाटक की सफलता इनके अन्योन्याश्रित प्रयत्नों से ही सम्भव है । इन सभी को एक दूसरे को सुविधा को ध्यान में रखकर चलना पड़ता है । इसी प्रकार ध्वनिनाटक तथा ध्वनिरूपक की सफलता के लिये भी ऐसे नाटककारो, अभिनेताओ, प्रस्तुनकर्ताओं (प्रौड्यूसर्स) आदि की अन्योन्याश्रित सुविधाओं का ध्यान रखकर चलना होगा । यदि ध्वनिनाटक और ध्वनिरूनक के रचयिता रेडियो पर इनके प्रस्तुत होने की कला से परिचित नहीं है और उनकी रचनाओं को प्रस्तुत करना ही है तो संभव है कि प्रस्तुतकर्ता उनकी रचना की अधिक सामग्री को काटछाँट दें; और ऐसी स्थिति में उनके लक्ष्य वा संदेश को श्रोता तक पहुँचने में कठिनाई उपस्थित हो सकती है। मेरा ख्याल है कि रेडियो पर ध्वनिनाटक तथा

ध्वनिरूपक के प्रस्तुत होने की कला से सुविधा पूर्वक परिचित हुआ जा सकता है और इस प्रकार परिचित होकर इस ढंग के अच्छे से अच्छे नाटक और रूपक लिखे जा सकते हैं।



हिंदी में प्रतिमित ध्वनिनाटक और ध्वनिरूपक की रचनायें अभी कम हुई हैं, मगर इसकी गतिविधि अच्छी है, इसका निर्देश मैंने आरंभ में ही किया है। इनकी रचना करनेवालों में से ये प्रमुख हैं, और इनमें से प्रायः सभी नाटककार हैं—सर्व श्री उदयशंकर भट्ट, लक्ष्मीनारायण मिश्र, उपेन्द्रनाथ 'अश्क', अज्ञेय, विष्णु प्रभाकर आदि। श्री उदयशंकर भट्ट ने ऐसे नाटकों—रूपकों के दो संग्रह भी पुस्तक रूप मे प्रकाशित किये हैं। एक का नाम है 'एकला चलो रे' और दूसरी का नाम 'कालिदास'। दूसरी किताब में तीन रचनायें हैं—कालिदास, मेघदूत, विक्रमोर्वशी। इनमें से प्रथम दो ध्वनिरूपक हैं और अन्तिम ध्वनिनाटक। मेघदूत और विक्रमोर्वशी गीतिमय हैं।

१६

रंगमंच

—१—

सभी युगों के नाटकों पर विचार करते समय यथास्थान रंगमंच की चर्चा भी चलाई गई है। देखा गया है कि हिंदी के अपने रंगमंच के न रहने के कारण हिंदी-नाटकों में अभिनय-तत्त्व की कमी मिलती है। उपयुक्त रंगमंच के संमुख न होने से हिंदी के नाटककार प्रायः अभिनेयता के अनुभव से वंचित रह इसकी सम्यक् व्यवस्था अपने नाटकों में न कर सके। उनकी रचनाओं में अभिनयगत सुविधाएँ कम रह गईं। यहाँ श्री जयशंकर 'प्रसाद' की इस संबंध में यह बात स्मरण आती है कि रंगमंच के लिए नाटक नहीं होते, नाटक के लिए रंगमंच होते हैं। अभिप्राय यह है कि नाटक को दृष्टि में रखकर रंगमंच का निर्माण होना चाहिए, रंगमंच की सुविधा को दृष्टि में रखकर नाटक का निर्माण नहीं। श्री 'प्रसाद' ने अपने सिद्धांत के अनुसार ही अपने नाटक लिखे, इसमें संदेह नहीं।

वर्तमान युग में भी हिंदी का अपना रंगमंच निर्मित न हो सका, यह कहते संकोच अवश्य होता है। हिंदी के अपने रंगमंच से मेरा तात्पर्य ऐसे रंगमंच से है जिसमें आधुनिक देशी तथा विदेशी रंगमंच के सम्यक् प्रभाव को ग्रहण करते हुए भी भारतीय अथवा संस्कृत के रंगमंच से भी प्रभाव ग्रहण किया जाता, जिसमें भारतीयता और हिंदीपन का प्राधान्य होता—यद्यपि उचित विदेशीपन की उपेक्षा भी न की जाती, क्योंकि समय के प्रभाव से वंचित रख किसी वस्तु को उपादेय और जीवित नहीं रखा जा सकता।

—२—

विचार करने पर विदित होगा कि हिंदी के आविर्भाव काल के

आरंभ से ही इस पर शासकों अथवा राजनीति का प्रहार होने के कारण इसका अपना रंगमंच निर्मित न हो सका, हिंदी का रंगमंच भारतीय रूप में न खड़ा हो सका। रामलोला, यात्रा आदि में भारतीयता अवश्य थी, परंतु यह रंगमंच का लौकिक अथवा सामाजिक रूप था, शास्त्रीय नहीं। नौटंकी और पारसी रंगमंच अपने असली रूप में विदेशी ही थे जिनमें हिंदी के भी कुछ नाटक अभिनीत होते थे। आधुनिक युग में सिनेमा रंगमंच की दृष्टि से इतने संभार और प्रसाधनों से युक्त आया कि सभी प्रकार के रंगमंचों की हिम्मत छूट गई। इसके सामने कोई रंगमंच न टिक सका। इस प्रकार विदित होता है कि प्रतिकूल परिस्थिति मे हिंदी के स्वतंत्र रंगमंच को पनपने का कभी अवसर न मिला। परंतु उक्त परिस्थिति में भी समय से प्रभावित होते हुए कुछ अंशों में हिंदी के अपने रंगमंच को स्थापित करने की दृष्टि से कुछ नाटककारों की रचनाएँ प्रस्तुत की और उनकी रचनाएँ अभिनीत भी हुई। श्री प्रसाद ऐसे ही स्वतंत्रचेता ने हिंदी का स्वतंत्र रंगमंच स्थापित करने का प्रयत्न भी किया और वे नाटककार थे। कुछ लोग अब भी इस कार्य में दत्तचित्त हैं। परंतु मेरी दृष्टि से मुख्यतः अर्थ के अभाव के कारण यह कार्य अभी तक संपन्न नहीं हो सका। यहाँ इसका स्मरण रखना आवश्यक है कि जब तक हिंदी का अपना रंगमंच पूर्ण विकसित रूप में हिंदी-नाटकारों के संमुख न रहेगा तब तक अभिनय की दृष्टि से उच्चकोटि के साहित्यिक नाटकों का निर्माण सचमुच नहीं हो सकेगा; क्योंकि रंगमंच के सामान्य तत्त्वों का प्रभाव भी किसी न किसी रूप में नाट्य-निर्माण पर पड़ता ही है, नाटक की दृष्टि से रंगमंच निर्मित हों, यह सिद्धांत की बात दूसरी है।

—३—

आधुनिक युग में सिनेमा के विकसित रंगमंच की बात ऊपर कही गई है। ऐसी अवस्था में हिंदी के रंगमंच की स्थापना भी सिनेमा के विकसित रंगमंच को दृष्टि में रखकर करना होगा; क्योंकि सिनेमा के

नाटकों तथा रंगमंच पर अभिनीत नाटकों में आज के युग में एकता होनी ही चाहिए, अन्यथा सिनेमा के सामने हिंदी का रंगमंच न टिक सकेगा। जो प्रसाधन, जो सजाव, जो संभार सिनेमा के रंगमंच पर हैं वे ही हिंदी के रंगमंच पर भी आने चाहिए, यदि सर्वांश में नहीं तो अधिक से अधिक अंश मे। वर्तमान युग में नवीनतम साधनों से संपन्न हिंदी का रंगमंच ही जीवित रह सकता है। यह देखकर प्रसन्नता अवश्य होती है कि हिंदी के अपने रंगमंच को स्थापित करने की ओर लोगों की दृष्टि है। कुछ लोगों ने किसी न किसी रूप में हिंदी के विकसित रंगमंच को स्थापित भी किया है। परंतु नाट्य-साहित्य की उन्नति के लिए आवश्यक यह है कि साहित्यिक ही इस कार्य में लगें, क्योंकि उन्हीं के इस कार्य में लगने से रंगमंच में पूर्ण रूप से साहित्यिकता आएगी और रंगमंचीय दृष्टि से भविष्य में उच्चकोटि के नाटकों का निर्माण होगा।

—४—

हिंदी-रंगमंच की स्थापना मे प्रतिवेशी साहित्यों के रंगमंचों का सम्यक् दर्शन और अध्ययन सहायक होगा, इसमें संदेह नहीं। हिंदी के प्रतिवेशी साहित्यों के रंगमंच अपेक्षाकृत विकसित हैं, इसे स्वीकार करना चाहिए। प्रतिवेशी साहित्यों के क्षेत्रो के जनों में कलात्मक रुचि के सामान्य स्तर के परिष्कृत और कुछ ऊँचा होने के कारण उनके रंगमंच में सहज कलात्मकता का संनिवेश हुआ है। अभिप्राय यह कि कलात्मक अभिरुचि के प्राधान्य के कारण थोड़े प्रयत्न से ही उन्होंने काफी शिष्ट रंगमंच स्थापित कर लिया है। यहाँ मेरी दृष्टि मराठी, गुजराती और गला रंगमंच पर है। अल्प प्रयत्न से ही निर्मित बँगला रंगमंच की सादगी, स्वाभाविकता और कलात्मकता प्रशंसनीय और हमारे लिए अनुकरणीय है।

रंगमंच की स्थापना के लिए शिक्षित, संस्कृत और शिष्ट पुरुषों और

स्त्रियों की अभिनय-मंडली की भी आवश्यकता होती है। ऐसे लोगों की अभिनय-मंडली के अभाव में भी अच्छे रंगमंच की स्थापना संभव नहीं है। इसी प्रकार अनुभवी और संयमी रंगमंच का नाट्य-निर्देशक के न होने पर भी रंगमंच की स्थापना सुविधापूर्वक नहीं की जा सकती। हिंदी में रंगमंच के निर्माण के लिए ऐसी अभिनय-मंडली तथा ऐसे निर्देशक के सामने आने की भी अपेक्षा है।

यहाँ इस पर भी ध्यान रखना आवश्यक है कि रंगमंच के निर्माण के लिए जैसे उक्त प्रकार की अभिनय-मंडली और नाट्य-निर्देशक आवश्यक हैं वैसे ही शिष्ट रुचिसंपन्न वास्तु तथा चित्रकला-कुशल की भी अपेक्षा होती है। हिंदी-रंगमंच की स्थापना के लिए इस प्रकार के व्यक्तियों को भी ढूँढ़ निकालना पड़ेगा।

नाम-वर्णिका

अंगूर की बेटी ५३, ८३
अंजना १९
अंतहीन अंत ५४
अजातशत्रु ३७, ४३
अज्ञेय १०८, १०९, ११०
अनाथदास ३
अभिज्ञान शाकुंतल ३, ४, ११, ४२
अमर राठौर २०, २५
अशोक ८१
आधी रात ८१
आनंद रघुनन्दन नाटक ३, ४
इंदु ६३
इब्सन ३०, ३१, ६८, ७०, ७३, ६७
इलाचंद्र जोशी ७४
उत्तर रामचरित २३ ,४२
उत्सर्ग २०, २५
उदयशंकर भट्ट ४८, ४९, ५०, ५२, ५३, ५४, ६३, ६४, ६ , ९६, ९७, ९९, १०१, १०६, ११०
उपेंद्रनाथ 'अश्क' ९६, ९७, १०१, ११०
एकला चलो रे ११०
एकादशी ९९
ऐज़ यू लाइक इट ११
कमला ५४
करुणाभरण ३
करुणालय ६३, ६४
कर्तव्य ५२, ८४
कर्पूर मंजरी १०
कर्बला २०, २६
कलिकौतुक रूपक ९
कामना ५५, ५६, ५७, ५८, ६०, ६१
कामायनी ५७
कालिदास १६, ३४, ३७, ११०
काव्य और कला तथा अन्य

निबंध ४६
कृष्णाकुमारी नाटक ११
कृष्णार्जुन युद्ध ५२, ८३
केशवदास ४
गणेशप्रसाद द्विवेदी १०१
गरुड़ध्वज ८१
गिरिधरदास ४
गिरीशचंद्र घोष २३
गोपालराम गहमरी १६, २२
गोपीनाथ पुरोहित ११
गोविंददास ४८, ४६, ५०, ५२, ५३, ५४, ८३, ८४, ८५, ६६, ६७, ६८, ६६, १००, १०१, १०२
गोविंदवल्लभ पंत ४६, ५१, ५२, ५३, ८३
चंद्रकला-भानुकुमार २६
चंद्रगुप्त २०
चंद्रगुप्त मौर्य ३३, ३८, ३६, ४३, ४४, ४५, ६४
चंद्रहास १६
चाँदी की डिबिया २३
चुंगी की उम्मीदवारी या मेंबरी की धूम २२
चुंबन ५३
चतुरसेन शास्त्री २०, २५
चतुष्पथ १०२
चरवाहे ६७
जगन्नाथ (पंडितराज) १
जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी २०, २२, २७
जगन्नाथप्रसाद 'मिलिंद' ४८, ५२
जनमेजय का नागयज्ञ ३७, ४०, ४६
जयशंकर 'प्रसाद' १८, २८, २६, ३१, ३२, ३३, ३४, ३६, ३७, ३८, ३६, ४०, ४१, ४२, ४३, ४४, ४५, ४६, ४७, ४८, ४६, ५०, ५५, ५६, ५८, ६२, ६३, ७०, ७२, ७८, ७६, ८१, ८३, ६४, ६६, १११, ११२
जानकी-रामचरित नाटक ४
जी० पी० श्रीवास्तव २२, २३
जोन आव् आर्क २४
ज्योत्स्ना ५५, ५६, ५७, ५८, ५६, ६०, ६१
तुलसीदास (नाटक) २०
तूफान से पहले ६७
थीबो १५
दयानंद ७५

दाहर या सिंधपतन ४८, ४६, ५०
दुर्गावती २०, २५, २६
देव ५.
देवताओ की छाया में ६७
देवमाया प्रपंच नाटक ५
देवीप्रसाद 'पूर्ण' २६
देश-दशा २२
द्विजेंद्रलाल राय २३, ३०, ३१, ३२, ७०, ७८, ७६
धनंजय विजय १०
ध्रुवस्वामिनी ४५
नहुष-नाटक ४
नागानंद २२
नीलदेवी १२
न्याय २३
पंचभूत ६६
पद्मावत ५७
पद्मावती ११
पाकिस्तान ५४
पाखंड विडंबन १०
पूर्वभारत १६
प्रकाश ५४, ८५
प्रतापनारायण मिश्र ६, ११, १३
प्रताप-प्रतिज्ञा ४८
प्रबुद्ध यामुन २०, २४
प्रबोधचंद्रोदय ३, ५, १०, ५६
प्रमदादास मित्र १५
प्रह्लाद नाटक ६
प्राणचंद चौहान २, ३
प्रेमचंद १७, २०, २१, २३, २६, ५३, ७२
प्रेम-लीला नाटक ११
प्लेज अनप्लजेट ६८, ७१
बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' १३
बद्रीनाथ भट्ट १६, २०, २२, २५, २६, २७
बर्नार्ड शा २४, ३०, ३१, ६८, ७०, ७१, ७३, ७६, ७७, ७८, ६७
बालकृष्ण भट्ट १३
बेचनशर्मा 'उग्र' ४८, ५३, ८३, ६६
भगवतीचरण वर्मा ६३
भवभूति २३
भीष्म १६

भुनेश्वरप्रसाद ६६, ६७, १०१
मँगनी के मियाँ २४
मत्सगंधा ६३, ६५
मथुराप्रसाद उपाध्याय ११
मधुरमिलन २२
मर्चेंट आव् वेनिस ११
महात्मा ईसा ४८, ८३
महाभारत १६
महाराणा प्रतापसिंह (नाटक) १२
महावीरचरित २३
माखनलाल चतुर्वेदी ५२, ८३
मातृगुप्त ३४, ३७
मार्कंडेय पुराण ५२
मालती माधव ३, २३
मालविकाग्नि मित्र २३
मिश्रबंधु १६, २०, २२
मुक्ति का रहस्य ७२, ७५, ७८, ८०, ८१
मुद्राराक्षस १०
मृच्छकटिक २३
मेवाड़ पद्मिनी १२
मेसर्स बैरेन्स प्रोफेसन ६८
मैकबेथ ११
मैथिलीशरण गुप्त १६, १०४
मोलियर २२, २३
मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ६
यशोधरा १०४
यामुनाचार्य २०
रक्षा-बंधन ४६, ५०
रघुराम नागर ३, ५
रणधीर-प्रेममोहिनी ६, १३, २६
रत्नावली १०
रवीन्द्रनाथ ठाकुर २३
राक्षस का मंदिर ७२, ७५, ७६, ७८, ८१
राजमुकुट ४६, ५१
राजयोग ८१
राधा ६३, ६५
राधाकृष्णदास १२
रामकुमार वर्मा ६६, ६७, ६८, ६६, १०१
रामकृष्ण परमहंस २०
रामकृष्ण वर्मा ११, २४
रामचंद्र वर्मा २३, २४
रामचंद्रिका ४
रामलीला-विहार ४

रामानुजाचार्य २०
रामायण महानाटक २, ३
रूपनारायण पाडेय २३
रोमियो ऐंड ज्यूलियट ११
लक्ष्मणशरण (मधुकर) ४
लक्ष्मी नारायण मिश्र २८, २६, ३१,३२,३३,७०,७२,७३,७४, ७५,७६,७७,७८,७६,८०,८१, ८२,८३,११०
लछीराम ३
वभ्रुवाहन १६
वरमाला ५२,८३,८४
विक्रमादित्य ४८,४६,५०
विद्या सुन्दर ९
वियोगी हरि २०, २४
विवेकानन्द २०
विष्णु प्रभाकर ११०
विशाख ३७
विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक १६
विश्वनाथ महापात्र १
विश्वनाथसिंह (महाराज) ३,४
विश्वामित्र ६३,६५
वीरनारी ११
वेनचरित १६
वेनिस का बैपारी ११
व्यास ५
शकुन्तला नाटक १५
शिवाजी २०
शिवा साधना ४६, ५०
शेक्सपीयर ११,२४,३०,३१,३२, ७०,७८
श्रीनिवासदास (लाला) ६, १२,१३, २६
संगीत शाकुंतल ११
संग्राम २१
संन्यासी ७८, ८१
संयोगता स्वयंवर २२
सगर-विजय ५२
सत्यनारायण कविरत्न २३
सत्य हरिश्चंद्र नाटक ३२
सद्गुरुशरण अवस्थी ६८
सभासार ३, ५
साहसेंद्र-साहस ११
सिंदूर की होली ८०, ८१
सीताराम (लाला) २३, २४
सुदर्शन १६
सुमित्रानंदन पंत ५५, ५६
स्कंदगुप्त विक्रमादित्य ३३, ३४, ३७, ३८, ३६, ४३, ४४, ४५
स्टेप हस्बेंड २४

स्वप्नवासव-दत्ता २३
हड़ताल २३
हनुमन्नाटक ३, ४
हरिकृष्ण 'प्रेमी' ४८, ४६, ५०
हरिरामजी ४
हरिश्चंद्र (भारतेंदु) ३, ७,८,६, १०, ११, १२, १३, १४, १५, २८, २६, ३२, ३६
हर्ष ४८, ४६, ५०
हर्षचरित ४४